प्रकाशक—

पन्नालाल बाकलीवाल,

महामंत्री—भारतीयजैनसिद्धांतप्रकाशिनी संस्था,

८ महेंद्रबोस लेन, श्यामबाजार—कलकत्ता।



मुद्रक—

श्रीलाल जैन काव्यतीर्थ,

जैनसिद्धांतप्रकाशक पवित्र प्रेस

८ महेंद्रबोस लेन, श्यामबाजार—कलकत्ता।

# कीर्तिध्वनि।

ओरण (अहमदाबाद) निवासी स्वर्गीय श्रीमान् शेठ मोतीचंद्र साकलचंद्रजीकी धर्म पत्नी जडाव बाईने पांचसौ रुपये ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमार्थ शास्त्रोद्धार करनेके लिये दिये थे उसी द्रव्यसे इन अश्रुतपूर्व तीनों ग्रंथोंका हिन्दी अनुवाद मूल सहित प्रगट किया गया है।

यद्यपि इससमय उक्त दानशीला बाई अपनी मनुष्य पर्यायमें नहीं है तो भी उसके नाम और अनुकरणीय दानको ये ग्रन्थ कीर्तित करते ही रहेंगे।

इन ग्रन्थोंकी न्योछावर संस्थाके नियमानुसार लागत मात्र रक्खी गई है। पूरी रकम उठ आनेपर फिर अन्य किसी ग्रन्थका जीर्णोद्धार होगा इस तरह एकवार दिये गये दानसे सैकडों वर्ष पर्यंत जैनशास्त्रोंका प्रचार होता रहेगा अतः इस परिपाटीसे लाभ उठानेकी इच्छा रखनेवाले भाइयोंको अपनी २ शक्ति अनुसार किसी भी एक जैन शास्त्रके उद्धार करनेके लिये सहायता देनी चाहिये।

—मंत्री

# प्रस्तावना।

जैन साहित्य कितना विशाल है? जैनधर्मके भक्त विद्वानोंने कितनी कृतियोंका निर्माण किया है। इस बातका पता लगाना अत्यन्त कठिन है। आज जिन जिन कृतियोंके दर्शनका सौभाग्य मिलता जा रहा है उन्हें देखकर जैन साहित्यकी प्रशंसा बिना किये नहीं रहा जाता। यह बात इस समय बड़े महत्वकी है कि ऐसी ऐसी अनुपम कृतियोंके प्रकाशनका साधन प्राप्त है नहीं तो आजकलके आलस्य परिपूर्ण व्यक्तियोंकी ओर देखनेसे इन कृतियों का पता भी नहीं चलता। ये जहां थीं वहीं रह कर कीड़ोंके पेटों में पहुंचती। सर्वसाधारण इनका रसास्वादन भी नहीं कर सकते। अब भी न मालूम कितनी अनुपम कृतियां भंडारोंमें सड़ रहीं होंगी और उनसे कीड़ोंके उदर पुष्ट होरहे होंगे। यदि बहुत जल्दी उनके प्रकाशनका प्रबंध न हुआ तो निश्चय है वे कृतियां पृथिवी आदि भूतोंमें मिल जायगी—उनका नाम तक सुननेमें न आवेगा।

पाठक आपके करकमलोंमें जो अनुपम कृति विराजमान है वह तीनग्रन्थरत्नोंका समुदाय है। तीनों ग्रन्थ रत्नोंमें पहिलेका नाम तत्त्वानुशासन दूसरेका वैराग्यमणिमाला तीसरेका नाम इष्टोपदेश है। इन तीनों ग्रन्थ रत्नोंका माणिकचंद्र दि. जै. ग्रन्थमालाके तेरहवे गुच्छक तत्त्वानुशासनादि संग्रहमें उद्धार हो चुका है परंतु वे संस्कृतमें

प्रकाशित हुए हैं। सर्व साधारण उनसे लाभ उठा नहीं सकते इस लिये इन तीनों ग्रन्थोंका मूलके साथ यह भाषानुवाद प्रकाशित किया गया है—

## ग्रंथ कर्ताओंका संक्षिप्त परिचय।

१ तत्त्वानुशासन। इस ग्रंथके कर्ता आचार्य नागसेन हैं। ग्रंथके अन्तमें वे अपने दीक्षा-गुरुका नाम विजयदेव और विद्या-गुरुओंका नाम वीरचंद्रदेव, शुभचंद्रदेव तथा महेंद्रदेव बतलाते हैं। अपने संघ या गण गच्छादिके विषयमें उनका मौन है। अपने समयका वे उल्लेख नहीं करते हैं। परंतु ऐसा मालूम होता है कि वे विक्रमकी १३ वीं शताब्दीसे पहले हुए हैं। क्योंकि पण्डितवर आशाधर 'इष्टोपदेशटीका'में-जो इसी संग्रहमें प्रकाशित की गई है-इस ग्रन्थके अनेक श्लोक 'उक्तं च' रूपमें उद्धृत करते हैं। उदाहरणके लिये इस संग्रहके पृष्ठ २७ में 'गुरूपदेशमासाद्य' आदि दो श्लोकोंको देखिए। तत्त्वानुशासनके १६६ और १६७ नम्बरके श्लोक हैं। और पं० आशाधरजीने-जैसा कि आगे बतलाया गया है-विक्रम संवत् १२८५ के पहले इष्टोपदेशकी टीका लिखी है। अतः तत्त्वानुशासनके कर्ता इससे भी पहले हुए हैं। नागसेनके अन्य किसी ग्रन्थसे हम परिचित नहीं।

२ इष्टोपदेश । इस छोटेसे पर महत्वपूर्ण ग्रन्थके कर्ता आचार्य देवनन्दी या पूज्यपाद हैं । श्रीयुक्त पं० काशीनाथ बापूजी पाठक बी० ए० ने एक कनड़ी ग्रन्थके आधारसे प्रगट किया है कि गंगवंशीय दुर्विनीत नामका राजा पूज्यपादका शिष्य था और इस राजाने वि० सं ५३५ से ५७० तक राज्य किया है। इसके सिवाय देवसेनसूरीने अपने 'दर्शनसार' नामक प्राकृतग्रन्थमें—जो वि० सं० ९९० में रचा गया है —लिखा है कि पूज्यपादके शिष्य वज्रनन्दिने वि० सं० ५२६ में द्राविड़संघकी स्थापना की थी। इन दोनों प्रमाणोंसे मालूम होता है कि देवनन्दि आचार्य विक्रमकी छट्ठी शताब्दीमें हो गये हैं। उनके बनाये हुए सर्वार्थसिद्धि-टीका, जैनेंद्रव्याकरण और समाधितंत्र ये तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।

इष्टोपदेशकी टीकाके कर्ता पण्डितवर आशाधर हैं । उन्होंने अनगार-धर्मामृतकी भव्यकुमुदचंद्रिका टीका वि० सं १३०० में समाप्त की थी, और यही शायद उनका अन्तिम ग्रन्थ था। अतः वे विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीके विद्वान् हैं उनके बनाये हुए बीसों ग्रन्थ हैं और उनमेंसे बहुतसे उपलब्ध भी हैं। वे अपने 'जिनयज्ञकल्प' नामक ग्रन्थमें जो वि सं १२८५ में बनकर समाप्त हुआ है—अपने उससमय तकके बनाये हुए जिन जिन ग्रन्थोंका उल्लेख करते हैं, उनमें इष्टोपदेश टीकाका भी नाम है। इससे मालूम

होता है कि यह टीका १२८५ से पहले बनी है। यह टीका उन्हों-ने सागरचंद्र मुनिके शिष्य विनयचंद्रकी प्रेरणासे बनाई थी, ऐसा टीकाके अन्तिम श्लोकोंसे मालूम होता है।

१० वैराग्य-मणिमाला। यह श्रुतसागरसूरिके शिष्य श्री-चंद्रकी रची हुई है। श्रुतसागर विद्यानन्दिभट्टारकके शिष्य थे। उनका समय विक्रमकी १६ वीं शताब्दी है श्रीचन्द्रका बनाया हुआ और कोई ग्रन्थ देखनेमें नहीं आया

इन महत्व पूर्ण ग्रन्थोंके अनुवादमें बहुतसी जगह त्रुटियां रह गई होंगी विज्ञ पाठकोंसे यह सविनय निवेदन है कि वे उन्हें परि-मार्जित करनेका कष्ट उठाकर पढे पढावें और हमें क्षमा प्रदान करें

—सम्पादक





श्रीवीतरागाय नमः ।

सनातनजैनग्रंथमाला ।

१६

श्रीमन्नागसेनमुनिविरचित

# तत्त्वानुशासन ।

( भाषानुवाद सहित )

---

सिद्धस्वार्थानशेषार्थस्वरूपस्योपदेशकान् ।
परापरगुरून्नत्वा वक्ष्ये तत्त्वानुशासनं ॥ १ ॥

जिन्होंने अपने शुद्ध आत्माको सिद्ध कर लिया है और समस्त पदार्थोंके स्वरूपका उपदेश दिया है ऐसे प्राचीन अर्वाचीन समस्त गुरुओंको नमस्कार कर मैं ( श्रीमन्नागसेनमुनि ) तत्त्वानुशासन नामके ग्रंथको कहता हूं ॥ १ ॥

अस्ति वास्तवसर्वज्ञः सर्वगीर्वाणवंदितः ।
घातिकर्मक्षयोद्भूतस्पष्टानंतचतुष्टयः ॥ २ ॥

घातिया कर्मोंके नष्ट होनेसे जिन्हें अनंत चतुष्टय स्पष्ट

रीतिसे प्रगट होगये हैं और जो समस्त इंद्रादि देवों द्वारा वंद्यनीय है ऐसा कोई न कोई वास्तविक सर्वज्ञ इस संसारमें अवश्य है ॥ २ ॥

तापत्रयोपतप्तेभ्यो भव्येभ्यः शिवशर्मणे।
तत्त्वं हेयमुपादेयमिति द्वेधाभ्यधादसौ ॥ ३ ॥

उन्हीं सर्वज्ञ देवने तीनों तरहके संतापोंसे तपाये हुए भव्य जीवोंको मोक्षरूप कल्याण प्राप्त करनेके लिये दो प्रकारके तत्त्वोंका उपदेश दिया है एक हेय अर्थात् छोडने योग्य और दूसरा उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य ॥ ३ ॥

बंधो निबंधनं चास्य हेयमित्युपदर्शितं।
हेयं स्याद् दुःखसुखयोर्यस्माद्बीजमिदं द्वयं ॥ ४ ॥

उन्होंने बंध और बंधके कारणोंको इस जीवकेलिये हेय तत्त्व अर्थात् छोडने योग्य बतलाया है इसका कारण यह है कि ये दोनों ही तत्त्व (बंध और बंधके कारण) सुख (सुख सरीखा लगने वाले इंद्रिय सुख) दुःखके कारण हैं और इसीलिये हेय गिने जाते हैं ॥ ४ ॥

मोक्षस्तत्कारणं चैतदुपादेयमुदाहृतं।
उपादेयं सुखं यस्मादस्मादाविर्भविष्यति ॥ ५ ॥

इसीप्रकार मोक्ष और मोक्षके कारणोंको उपादेय तत्त्व बतलाया है इसका कारण यह है कि मोक्ष और मोक्षके

कारणोंसे वास्तविक सुखं प्रगट होता है इसलिये वे दोनों ही उपादेय तत्त्व माने जाते हैं ॥ ५ ॥

तत्र बंधः स हेतुभ्यो यः संश्लेषः परस्परं ।
जीवकर्मप्रदेशानां स प्रसिद्धश्चतुर्विधः ॥ ६ ॥

अपने निश्चित कारणोंके द्वारा जो जीव और कर्मोंके प्रदेश परस्पर मिल जाते हैं उसको वन्ध कहते हैं वह वन्ध चार प्रकारसे प्रसिद्ध है ( प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रदेश ) ॥ ६ ॥

बंधस्य कार्यः संसारः सर्वदुःखप्रदोऽगिनां ।
द्रव्यक्षेत्रादिभेदेन स चानेकविधः स्मृतः ॥ ७ ॥

इसी, वन्धका कार्य यह संसार है जो कि जीवोंको सब तरहके दुख देनेवाला है। यही संसार द्रव्य क्षेत्र आदि के ( द्रव्य क्षेत्र काल भव भाव ) के भेदसे अनेक तरहका कहा जाता है ॥ ७ ॥

स्युर्मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणि समासतः ।
बंधस्य हेतवोऽन्यस्तु त्रयाणामेव विस्तरः ॥ ८ ॥

मिथ्या दर्शन मिथ्या ज्ञान और मिथ्या चारित्र ये ही तीन संक्षेपसे वन्ध के कारण हैं बाकी और सब ( वन्धके अन्य कारण ) इन्हीं तीनोंके भेद प्रभेद समझने चाहिये ॥

अन्यथावस्थितेष्वर्थेष्वन्यथैव रुचिर्नृणां ।

दृष्टिमोहोदयान्मोहो मिथ्यादर्शनमुच्यते ॥ ९ ॥

जो पदार्थ किसीभी हालतमें मौजूद हैं उनमें दर्शन मोहनीय कर्मके उदयसे मनुष्योंका विश्वास वा उनकी श्रद्धा रुचि भिन्न रीतिसे होजाय अर्थात् वे कुछका कुछ विश्वास करलें तो उनके उस मिथ्या विश्वासको मोह वा मिथ्या दर्शन कहते हैं ॥ ९ ॥

ज्ञानावृत्युदयादर्थेष्वन्यथाधिगमो भ्रमः।
अज्ञानं संशयश्चेति मिथ्याज्ञानमिह त्रिधा ॥ १० ॥

ज्ञानावरण कर्मके उदयसे पदार्थोंमें मिथ्याज्ञान होनेको मिथ्याज्ञान कहते हैं वह मिथ्याज्ञान भ्रम ( अनध्यवसाय ) अज्ञान (विपरीत ज्ञान) और संशयके भेदसे तीन प्रकारका कहा जाता है ॥ १० ॥

वृत्तिमोहोदयाज्जन्तोः कषायवशवर्त्तिनः।
योगप्रवृत्तिरशुभा मिथ्याचारित्रमूचिरे ॥ ११ ॥

चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे जो इस जीवके कषायों के वश होकर योगोंकी ( मन वचन कायकी ) अशुभ प्रवृत्ति होती है उसको मिथ्या चारित्र कहते हैं ॥ ११ ॥

बंधहेतुषु सर्वेषु मोहश्च प्राक् प्रकीर्तितः।
मिथ्याज्ञानं तु तस्यैव सचिवत्वमशिश्रियत् ॥ १२ ॥

ममाहंकारनामानौ सेनान्यौ तौ च तत्सुतौ।
यदायत्तः सुदुर्भेदो मोहव्यूहः प्रवर्तते ॥ १३ ॥

बन्धके जितने कारण हैं उनमें सबसे पहले मोह वा मिथ्या दर्शन ही कहा गया है। मिथ्याज्ञान तो केवल मंत्रीपनेका काम करता है अर्थात् मिथ्याज्ञान मिथ्या दर्शनका सहायक हैं। ममत्व और अहंकार ये दोनों उस मिथ्यादर्शन के पुत्र हैं और ये ही दोनों सेनापति हैं इन्हींकी अधीनता में यह मोहव्यूह (मिथ्या दर्शनकी सेनाकी व्यूह रचना) अत्यन्त दुर्भेद (जिसको कोई भी न भेद सके) हो रहा है ॥

शश्वदनात्मीयेषु स्वतनुप्रमुखेषु कर्मजनितेषु।
आत्मीयाभिनिवेशो ममकारो मम यथा देहः १४

अपने शरीर आदि (पुत्र स्त्री धन धान्यादि) जो पदार्थ कर्मके उदयसे प्राप्त हुए हैं और जो आत्मासे सदा भिन्न रहते हैं उनमें अपनापन मान लेना ममकार वा ममत्व कहलाता है जैसे यह शरीर मेरा है ऐसी बुद्धिको ममत्व कहते हैं ॥ १४ ॥

ये कर्मकृता भावाः परमार्थनयेन चात्मनो भिन्नाः।
तत्रात्माभिनिवेशोऽहंकारोऽहं यथा नृपतिः १५

इसी प्रकार जो आत्माके विभाव परिणाम कर्मोंके उदय से प्राप्त हुए हैं और निश्चयनयसे आत्मासे भिन्न हैं उनमें

अपनापन मान लेना अहंकार कहलाता है जैसे मैं राजा हूं ॥

मिथ्याज्ञानान्वितान्मोहान्ममाहंकारसंभवः ।
इमकाभ्यां तु जीवस्य रागो द्वेषस्तु जायते ॥१६॥

मिथ्याज्ञानके साथ २ होनेवाले मिथ्यादर्शनसे ममकार और अहंकार उत्पन्न होते हैं तथा ममकार और अहंकारसे इस जीवके राग द्वेष पैदा होते हैं ॥ १६ ॥

ताभ्यां पुनः कषायाः स्युर्नोकषायाश्च तन्मयाः ।
तेभ्यो योगाः प्रवर्तन्ते ततः प्राणिवधादयः ॥१७॥
तेभ्यः कर्माणि बध्यन्ते ततः सुगतिदुर्गती ।
तत्र कायाः प्रजायन्ते सहजानीन्द्रियाणि च ॥१८॥

राग तथा द्वेषसे कषाय प्रगट होते हैं और नोकषाय भी कषायरूप ही होते हैं अर्थात् कषायोंसे ही प्रगट होते हैं। उन कषाय और नोकषायोंसे ही योगोंकी प्रवृत्ति होती है, और योगोंकी प्रवृत्ति होनेसे जीवहिंसा झूठ चोरी आदि महापाप उत्पन्न होते हैं। उन पापोंसे कर्मोंका बन्धहोता है उन बंधे हुए कर्मोंके उदयसे सुगति तथा दुर्गति प्राप्त होती है उनसुगति तथा दुर्गति दोनोंमें शरीर उत्पन्न होते हैं और उन शरीरोंके साथ२ इन्द्रियां प्रगट होती हैं ॥ १७-१८ ॥

तदर्थानिन्द्रियैर्गृह्णन् मुह्यति द्वेष्टि रज्यते ।
ततो बंधो भ्रमत्येवं मोहव्यूहगतः पुमान् ॥ १९ ॥

उन स्पर्शन रसना आदि इंद्रियोंके द्वारा उनके विषय स्पर्श रस आदिको ग्रहण करता हुआ यह जीव मोहित होता है द्वेष करता है और राग करता है तथा मोहित होने और राग द्वेष करनेसे इस जीवके फिर कर्मोंका बंध होता है। इसप्रकार मोहके व्यूहमें ( मोहकी सेनाकी रचनामें ) प्राप्त हुआ यह जीव सदा परिभ्रमण किया करता है ॥१९॥

तस्मादेतस्य मोहस्य मिथ्याज्ञानस्य च द्विषः ।
ममाहंकारयोश्चात्मन्विनाशाय कुरूद्यमं ॥ २० ॥

इसलिये हे आत्मन् ! ये मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान दोनों ही तेरे शत्रु हैं अतएव इन दोनोंको नाश करनेके लिये तथा ममकार और अहंकारको नाश करनेकेलिये तू उद्यम कर ॥ २० ॥

बंधहेतुषु मुख्येषु नश्यत्सु क्रमशस्तव ।
शेषोऽपि रागद्वेषादिर्बंधहेतुर्विनश्यति ॥ २१ ॥

मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान तथा ममकार और अहंकार बंधके मुख्य कारण हैं यदि ये नष्ट हो जांयगे तो अनुक्रमसे बाकी बचे हुए राग द्वेष आदि बंधके कारण भी अवश्य नष्ट हो जायंगे ॥ २१ ॥

ततस्त्वं बंधहेतूनां समस्तानां विनाशतः ।
बंधप्रणाशान्मुक्तः सन्न भ्रमिष्यसि संसृतौ ॥२२॥

उन सब बंधके कारणोंके नष्ट होनेसे बंध भी नष्ट हो जायगा, बंधके नष्ट होनेसे तू मुक्त हो जायगा और मुक्त होनेपर फिर तुझे इस संसारमें परिभ्रमण नहीं करना पडेगा ॥ २२ ॥

बंधहेतुविनाशस्तु मोक्षहेतुपरिग्रहात् ।
परस्परविरुद्धत्वाच्छीतोष्णस्पर्शवत्तयोः ॥ २३ ॥

अथवा मोक्षके कारणोंको स्वीकार करनेसे (पालन व धारण करनेसे) बंधके कारणोंका नाश अवश्य होता है क्योंकि मोक्षके कारण और बंधके कारण ये दोनों ही शीत स्पर्श और उष्ण स्पर्शके समान परस्पर विरुद्ध हैं ॥ २३ ॥

स्यात्सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रितयात्मकः ।
मुक्तिहेतुर्जिनोपज्ञं निर्जरासंवरक्रियाः ॥ २४ ॥

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनोंकी एकता ही मोक्षका कारण है। इनके सिवाय निर्जरा और संवररूप क्रियाएं भी श्रीजिनेंद्रदेवने मोक्षके कारणरूप बतलाई हैं ॥ २४ ॥

जीवादयो नवाप्यर्था ये यथा जिनभाषिताः ।
ते तथैवेति या श्रद्धा सा सम्यग्दर्शनं स्मृतं ॥ २५ ॥

जीवादिक नौ पदार्थ श्रीजिनेंद्रदेवने जिसप्रकार कहे हैं उनकी उसीप्रकार श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन कहलाता है ॥

प्रमाणनयनिक्षेपैर्यो याथात्म्येन निश्चयः।
जीवादिषु पदार्थेषु सम्यग्ज्ञानं तदिष्यते ॥ २६॥

प्रमाण नय और निक्षेपोंके द्वारा जीवादिक पदार्थोंमें यथार्थ रीतिसे निश्चय करना सम्यग्ज्ञान कहलाता है ॥ २६

चेतसा वचसा तन्वा कृतानुमतकारितैः।
पापक्रियाणां यस्त्यागः सच्चारित्रमुषंति तद् २७

मनसे वचनसे शरीरसे तथा कृत कारित अनुमोदनासे जो पापरूप क्रियाओंका त्याग करदेना है वह उत्तम चारित्र कहलाता है ॥ २७ ॥

मोक्षहेतुः पुनर्द्वेधा निश्चयव्यवहारतः।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनं २८

निश्चय और व्यहारके भेदसे मोक्षके कारण दो प्रकारके हैं उनमेंसे पहिला अर्थात् निश्चयकारण साध्यरूप है और दूसरा व्यवहारकारण साधनरूप है अर्थात् व्यवहारसे निश्चय सिद्ध किया जाता है ॥ २८ ॥

अभिन्नकर्तृकर्मादिविषयो निश्चयो नयः।
व्यवहारनयो भिन्नकर्तृकर्मादिगोचरः ॥ २९ ॥

जिसमें कर्ता कर्म आदि विषय सब अभिन्न हों वह निश्चयनय वा निश्चय मोक्षमार्ग गिना जाता है और जिस-

में कर्ता कर्म आदि सब भिन्न हों वह व्यहार नय वा व्यव-हार मोक्षमार्ग कहलाता है ॥ २९ ॥

धर्मादिश्रद्धानं सम्यक्त्वं ज्ञानमधिगमस्तेषां।
चरणं च तपसि चेष्टा व्यवहारान्मुक्तिहेतुरयं ३०

धर्म तत्त्व आदिका यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, उन धर्म वा तत्त्वोंका जानना सम्यग्ज्ञान है और तपश्चरणमें अपनी चेष्टा करना अर्थात् अपनेमें अपने आत्माको लगाना सम्यक्चारित्र है इन तीनोंकी एकता ही व्यवहार नयसे मोक्षमार्ग कहलाता है ॥ ३० ॥

निश्चयनयेन भणितस्त्रिभिरेभिर्यः समाहितो भिक्षुः
नोपादत्ते किंचिन्न च मुञ्चति मोक्षहेतुरसौ ॥३१॥

जो साधु इन ऊपर लिखे हुये सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र सहित होकर न कुछ ग्रहण करता है और न कुछ छोडता है, भावार्थ–आत्मामें तल्लीन हो जाता है वह निश्चय नयसे मोक्षमार्ग गिना जाता है ॥ ३१॥

यो मध्यस्थः पश्यतिजानात्यात्मानमात्मनात्मन्यात्मा
दृगवगमचरणरूपस्सनिश्चयान्मुक्तिहेतुरिति जिनोक्तिः

श्रीजिनेंद्रदेवने उपदेश किया है कि जो सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्ररूप मध्यस्थ आत्मा अपने ही आत्माके द्वारा अपने ही आत्मामें अपने ही आत्माको जानता है और

देखता है वह निश्चय नयसे मोक्षमार्ग गिना जाता है ॥३२॥

स च मुक्तिहेतुरिद्धो ध्याने यस्मादवाप्यते द्विविधोऽपि
तस्मादभ्यसन्तु ध्यानं सुधियःसदाप्यपास्यालस्यं ॥

इसप्रकार ऊपर कहा हुआ दोनों प्रकारका पूज्य मोक्षमार्ग नियमसे ध्यानमें ही प्राप्त होता है इसलिये बुद्धिमान लोगोंको आलस छोड़कर सदा ध्यानका ही अभ्यास करना चाहिये ॥ ३३ ॥

आर्त्तं रौद्रं च दुर्ध्यानं वर्जनीयमिदं सदा।
धर्मं शुक्लं च सद्ध्यानमुपादेयं मुमुक्षुभिः ॥ ३४ ॥

ध्यानके चार भेद हैं आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल। इनमेंसे आर्तध्यान और रौद्रध्यान ये दोनों दुर्ध्यान ( पापके कारण ) हैं इसलिये इनका सदा त्याग करना चाहिये तथा धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान ये दोनों ही उत्तम ध्यान हैं इसलिये मोक्षकी इच्छा करनेवालोंको इनका अभ्यास सदा करते रहना चाहिये ॥ ३४ ॥

वज्रसंहननोपेताः पूर्वश्रुतसमन्विताः ।
दध्युः शुक्लमिहातीताः श्रेण्योरारोहणक्षमाः ॥३५॥

जिनके शरीरका संहनन वज्रऋषभ नाराच था, जो ग्यारह अंग और चौदह पूर्व श्रुतज्ञानको धारण करनेवाले थे तथा जो उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी के चढनेके योग्य

थे ऐसे चतुर्थकालमें होनेवाले कितने ही लोगोंने शुक्लध्यान धारण किया था ॥ ३५ ॥

ताहक्सामग्र्यभावे तु ध्यातुं शुक्लमिहाक्षमान्।
ऐदंयुगीनानुदिश्य धर्मध्यानं प्रचक्ष्महे॥ ३६॥

परंतु इससमय शुक्लध्यानके योग्य सामग्रीका अभाव होनेसे इस समय उत्पन्न होनेवाले जो लोग शुक्लध्यान धारण कर नहीं सकते उनके लिये अब धर्मध्यानका स्वरूप कहता हूं ॥ ३६ ॥

ध्याता ध्यानं फलं ध्येयं यस्य यत्र यदा यथा।
इत्येतदत्र बोद्धव्यं ध्यातुकामेन योगिना॥ ३७॥

जो योगी ध्यान करना चाहता है उसे ध्याता (ध्यान करनेवाला) ध्यान, ध्यानका फल, ध्येय अर्थात् ध्यान करने योग्य पदार्थ तथा जिसका ध्यान करना चाहिये जिसजगह करना चाहिये, जिससमयमें करना चाहिये, और जिस रीतिसे करना चाहिये इन सब बातोंका विचार करना उचित है ॥ ३७ ॥

गुप्तेन्द्रियमना ध्याता ध्येयं वस्तु यथास्थितं।
एकाग्रचिंतनं ध्यानं निर्जरासंवरौ फलं॥ ३८॥

जिसकी इंद्रियां और मन वशमें रहते हैं वह ध्याता अर्थात् ध्यान करने वाला कहा जाता है जो पदार्थ अपनी

अवस्थामें मौजूद है वह ध्येय अर्थात् ध्यान करने योग्य गिना जाता है। एकाग्र चिंतवन करना अर्थात् अन्य सब पदार्थों के चिंतवनको छोडकर किसी एकही पदार्थका चिंतवन करना ध्यान कहलाता है और कर्मोंकी निर्जरा होना तथा संवर होना उसका फल माना जाता है ॥ ३८ ॥

देशः कालश्च सोऽन्वेष्य सा चावस्थानुगम्य तां।
यदा यत्र यथा ध्यानमपविघ्नं प्रसिद्ध्यति ॥ ३९ ॥

इसी प्रकार देश और कालको देखकर वह अवस्था भी देखनी चाहिये कि जिससे जिस जगह ध्यान किया जाय जिस समय में ध्यान किया जाय और जिस रीतिसे ध्यान किया जाय उसमें किसी प्रकारका विघ्न न आवे अर्थात् वह ध्यान निर्विघ्न रीतिसे सिद्ध हो ॥ ३९ ॥

इति संक्षेपतो ग्राह्यमष्टांगं योगसाधनं।
विवरीतुमदः किंचिदुच्यमानं निशम्यतां ॥ ४० ॥

इस प्रकार संक्षेपसे यह योग साधन आठ प्रकार से ग्रहण करना चाहिये। अब मैं इसी आठ प्रकारके ध्यानका विशेष वर्णन लिखता हूं उसे चित्त लगाकर सुनो॥ ४० ॥

तत्रासन्नीभवेन्मुक्तिः किंचिदासाद्य कारणं।
विरक्तः कामभोगेभ्यस्त्यक्तसर्वपरिग्रहः ॥ ४१ ॥

अभ्येत्य सम्यगाचार्यं दीक्षां जैनेश्वरीं श्रितः।

तपःसंयमसम्पन्नः प्रमादरहिताशयः ॥ ४२ ॥
सम्यग्निर्णीतजीवादिध्येयवस्तुव्यवस्थितिः ।
आर्त्तरौद्रपरित्यागाल्लब्धचित्तप्रसत्तिकः ॥ ४३ ॥
मुक्तलोकद्वयापेक्षः षोढाशेषपरीषहः ।
अनुष्ठितक्रियायोगो ध्यानयोगे कृतोद्यमः ॥४४॥
महासत्त्वः परित्यक्तदुर्लेश्याशुभभावनः ।
इतीदृग्लक्षणो ध्याता धर्मध्यानस्य सम्मतः ४५

उन सबमेंसे ध्याताका स्वरूप इस प्रकार है—मुक्त होना जिसके समीप आचुका है अर्थात् जो थोडे ही कालमें मुक्त होने वाला है, जो कुछ भी कारण पाकर काम भोगों से विरक्त हो गया हैं जिसने समस्त परिग्रहोंका त्याग कर दिया है, उत्तम आचार्यके समीप जाकर जिसने श्रीजैन-दीक्षा धारण कर ली है जो तप और संयमको अच्छी तरह पालन करता है, जिसका हृदय प्रमादों से सर्वथा रहित है जिसने ध्यान करने योग्य जीवादिक पदार्थों की अवस्था का अच्छी तरह निर्णय करलिया है, आर्त ध्यान और रौद्र ध्यानके त्याग करनेसे जिसका चित्त सदा निर्मल रहता है जिसने इसलोक और परलोक दोनों लोकों की अपेक्षा का त्याग कर दिया है जो समस्त परिषहोंको सहन कर चुका हैं जिसने समस्त क्रियायोगोंका अनुष्ठान कर लिया है जो

ध्यान धारण करनेके लिये सदा उद्यम करता रहता है जो महाशक्तिशाली है और जिसने अशुभ लेश्याओं और अशुभ भावनाओंका सर्वथा त्याग कर दिया है। इस प्रकारके सम्पूर्ण लक्षण जिसमें विद्यमान हैं वह धर्मध्यानके ध्यान करने योग्य ध्याता माना जाताहै ॥ ४१-४५ ॥

अप्रमत्तः प्रमत्तश्च सद्दृष्टिर्देशसंयतः।
धर्मध्यानस्य चत्वारस्तत्त्वार्थे स्वामिनः स्मृताः

तत्त्वार्थसूत्रमें अप्रमत्त सातवें गुणस्थानवाला प्रमत्त छट्ठे गुणस्थानवाला अविरत सम्यग्दृष्टि चौथे गुण स्थानवाला और देशसंयमी पांचवे गुणस्थानवाला इस प्रकार धर्मध्यानके चार स्वामी माने हैं अर्थात् ये चारो तरहके जीव धर्मध्यान धारण कर सकते हैं ॥ ४६ ॥

मुख्योपचारभेदेन धर्मध्यानमिह द्विधा।
अप्रमत्तेषु तन्मुख्यमितरेष्वौपचारिकं ॥ ४७ ॥

मुख्य और उपचारके भेदसे धर्म्यध्यान दो प्रकारका है उनमेंसे अप्रमत्त गुणस्थानमें मुख्य होता है और बाकी तीन गुणस्थानोंमें औपचारिक होता है ॥ ४७ ॥

द्रव्यक्षेत्रादिसामग्री ध्यानोत्पत्तौ यतस्त्रिधा।
ध्यातारस्त्रिविधास्तस्मात्तेषां ध्यानान्यपि त्रिधा

ध्यान धारण करनेके लिये द्रव्य क्षेत्र आदिकी सा-

ग्री तीनप्रकारकी है उत्तम मध्यम जघन्य इसलिये अर्थात् सामग्रीके भेदसे ध्यान करनेवाले भी तीन प्रकारके हैं और उनके ध्यान भी तीन प्रकारके हैं॥ ४८॥

सामग्रीतः प्रकृष्टाया ध्यातरि ध्यानमुत्तमं।
स्याज्जघन्यं जघन्याया मध्यमायास्तु मध्यमं.४९

यदि ध्यान करनेवालेको उत्कृष्ट सामग्री मिल जाय तो उसका ध्यान भी उत्तम कहा जाता है यदि उसे जघन्य सामग्री मिले तो उसका ध्यान जघन्य कहलाता है और यदि सामग्री मध्यम मिले तो उसका वह ध्यान भी मध्यम गिना जाता है॥ ४९॥

श्रुतेन विकलेनापि ध्याता स्यान्मनसा स्थिरः।
प्रबुद्धधीरधःश्रेण्योर्धर्मध्यानस्य सुश्रुतः॥ ५०॥

श्रेणी आरोहणके नीचे नीचे तक यदि विकसित बुद्धिवाला ध्यान करने योग्य पुरुष पूर्ण श्रुतज्ञानी न हो थोड़ेसे श्रुतज्ञानका जानकार हो तो भी वह मनको स्थिर कर सकता है और धर्मध्यानको धारण कर सकता है॥ ५०॥

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
तस्माद्यदनपेतं हि धर्म्यं तद्ध्यानमभ्यधुः॥ ५१॥

धर्मके ईश्वर गणधरादि देव सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान

और सम्यक् चारित्रको धर्म कहते हैं इसलिये जो उस र-त्नत्रयरूप धर्मसे उत्पन्न हो उसे ही वे आचार्यगण धर्म्यध्यान कहते हैं ॥ ५१ ॥

आत्मनः परिणामो यो मोहक्षोभविवर्जितः।
स च धर्मोनपेतं यत्तस्मात्तद्धर्म्यमित्यपि ॥ ५२॥

अथवा मोह और क्षोभसे रहित जो आत्माका परिणाम है वह भी धर्म कहलाता है और उस धर्मसे उत्पन्न हुआ जो ध्यान है वह धर्म्यध्यान कहलाता है ॥ ५२ ॥

शून्यीभवदिदं विश्वं स्वरूपेण धृतं यतः।
तस्माद्वस्तुस्वरूपं हि प्राहुर्धर्मं महर्षयः ॥ ५३ ॥

शून्यताको प्राप्त हुआ यह संसार स्वरूपसे ही धारण किया जा रहा है, भावार्थ—पदार्थोंके स्वरूपसे ही वह वि-श्व वा संसार कहलाता है विना पदार्थोंके स्वरूपके वह कभी विश्व वा संसार नहीं कहला सकता क्योंकि विना पदार्थोंके स्वरूपके वह अलोकाकाशके समान शून्य कहला-वेगा इसलिये महर्षि लोग वस्तुके स्वरूपको ही धर्म क-हते हैं ॥ ५३ ॥

ततोऽनपेतं यज्ज्ञातं तद्धर्म्यं ध्यानमिष्यते।
धर्मो हि वस्तुयाथात्म्यमित्यार्षेऽप्यभिधानतः ॥

उस वस्तुके स्वरूपसे जो उत्पन्न हो अथवा उसके

द्वारा जो जाना जाय वह धर्म्यध्यान कहलाता है। तथा ऋषिप्रणीत आर्ष ग्रंथोंमें वस्तुके यथार्थ स्वरूपको ही धर्म कहा है ॥ ५४ ॥

यस्तूत्तमक्षमादिः स्याद्धर्मो दशतया परः।
ततोऽनपेतं यद्ध्यानं तद्वा धर्म्यमितीरितं ॥ ५५ ॥

अथवा उत्तम क्षमा आदि जो दश प्रकारका धर्म माना गया है उससे उत्पन्न हुआ जो ध्यान है वह धर्म्यध्यान कहलाता है ॥ ५५ ॥

एकाग्रचिंतारोधो यः परिस्पंदेन वर्जितः।
तद्ध्यानं निर्जराहेतुः संवरस्य च कारणं ॥ ५६ ॥

जो ध्यान एकाग्रचिंताके निरोध रूप है अर्थात् किसी एक पदार्थके चिंतवनके द्वारा अन्य पदार्थोंके चिंतवनके निरोध करने रूप है और मन वचन कायके द्वारा होनेवाले परिस्पंदनसे ( आत्माके प्रदेशोंके हलन चलनसे ) रहित है वही ध्यान निर्जराका कारण और संवरका हेतु गिना जाता है ॥ ५६ ॥

एकं प्रधानमित्याहुरग्रमालंबनं मुखं।
चिंतां स्मृतिं निरोधं तु तस्यास्तत्रैव वर्तनं ॥ ५७ ॥

एक, प्रधान, अग्र आलंबन और मुख ये सब पर्यायवाचक शब्द हैं तथा चिंता, स्मृति, निरोध, और उसका उसी

में तल्लीन रहना ये भी सब पर्याय वाचक शब्द हैं ॥५७॥

द्रव्यपर्याययोर्मध्ये प्राधान्येन यदर्पितं।
तत्र चिंतानिरोधो यस्तद्ध्यानं बभणुर्जिना: ५८

द्रव्य और पर्यायमेंसे जिसको प्रधानता दी हो उसीमें चिंताका निरोध करना अर्थात् अन्य सब चिंताओंको छोड़कर उसीका चिंतवन करना, ध्यान कहलाता है ऐसा श्री जिनेंद्रदेवने कहा है ॥ ५८ ॥

एकाग्रग्रहणं चात्र वैयग्र्यविनिवृत्तये।
व्यग्रं ह्यज्ञानमेव स्यद्ध्यानमेकाग्रमुच्यते ॥५९॥

यहां पर अर्थात् ध्यानके लक्षणमें एकाग्रताका ग्रहण, व्यग्रता वा चंचलताके दूर करने केलिये किया गया है। अन्य चिंताओंको छोडकर एक पदार्थका चिंतवन करना ही व्यग्रताका अभाव होना है। क्योंकि व्यग्रता अज्ञान है और एकाग्रताको ध्यान कहते हैं ॥ ५९ ॥

प्रत्याहृत्य यदा चिंतां नानालंबनवर्तिनीं।
एकालंबन एवैनां निरुणद्धि विशुद्धधीः ॥ ६० ॥

तदास्य योगिनो योगश्चिंतैकाग्रनिरोधनं।
प्रसंख्यानं समाधिः स्याद्ध्यानं स्वेष्टफलप्रदं ६१

जिससमय विशुद्ध बुद्धिवाला योगी किसी एक मुख्य पदार्थका अवलंबनकर अनेक पदार्थोंके अवलंबनमें रहने-

वाली चिंताको दूरकर केवल उसी चिंताको ( जिस एक मुख्य पदार्थको अवलंबनकर चिंतवन कर रहा है ) रोकता है अर्थात् उसी एक पदार्थके चितवनको स्थिर रखता है उससमय उस योगीका वह चिंतवन योग कहलाता है उसीको चिंताकी एकाग्रता का निरोध कहते हैं उसीको प्रसंख्यान कहते हैं उसीको समाधि कहते हैं और वही आत्माको इष्ट फल देनेवाला ध्यान कहलाता है ॥ ६०-६१ ॥

अथवांगति जानातीत्यग्रमात्मा निरुक्तितः।
तत्त्वेषु चाग्रगण्यत्वादसावग्रमिति स्मृतः॥ ६२ ॥

अथवा अंगतीति अग्रं अर्थात् जो जाने वह अग्र कहलाता है इस निरुक्तिसे आत्माका ही नाम अग्र पड़ता है क्योंकि आत्मामें ही जाननेकी शक्ति है। इसके सिवाय सब तत्त्वोंमें भी आत्मा ही अग्रगण्य वा मुख्य माना जाता है इसलिये भी आत्माको ही अग्र कहते हैं ॥ ६२ ॥

द्रव्यार्थिकनयादेकः केवलो वा तथोदितः।
अंतःकरणवृत्तिस्तु चिंतारोधो नियंत्रणा ॥ ६३ ॥
अभावो वा निरोधः स्यत्स च चिंतांतरव्ययः।
एकचिंतात्मको यद्वा स्वसंविच्चिंतयोज्झितः॥६४॥

द्रव्यार्थिक नयसे यह आत्मा एक ही है अथवा केवल ज्ञानी वा केवली होनेसे यह आत्मा केवल वा एक गिना

जाता है अंतःकरणकी वृत्तिको नियंत्रित करना अर्थात् उसे वशमें रखना चिंतारोध कहलाता है। अथवा अभावको निःरोध कहते हैं और अन्य चिंताओंका नाश होना ही वह अभाव वा निरोध कहलाता है। अथवा अन्य चिंताओंसे रहित जो एक चिंतात्मक एक चिंतारूप अपने आत्माका ज्ञान है वह भी एक अग्र आत्मा कहलाता है ॥ ६३-६४ ॥

तत्रात्मन्यसहाये यच्चिंतायाः स्यान्निरोधनं।
तद्ध्यानं तदभावो वा स्वसंवित्तिमयश्च सः ॥ ६५ ॥

उस असहायरूप एक आत्मामें जो चिंताका निरोध किया जाता है अर्थात् सब चिंताओंको छोडकर अन्तःकरणकी प्रवृत्ति उसीमें नियंत्रित वा तल्लीन हो जाती है उसको ध्यान कहते हैं वही अभाव वा निरोध अर्थात् अन्य चिंताओंका अभाव वा नाश कहलाता है तथा उसीको निजज्ञानमय अपने ज्ञानमें तल्लीन हुआ आत्मा कहते हैं ॥६५॥

श्रुतज्ञानमुदासीनं यथार्थमतिनिश्चलं।
स्वर्गापवर्गफलदं ध्यानमांतर्मुहूर्ततः ॥ ६६ ॥

यह श्रुतज्ञानरूप, उदासीन, यथार्थ, अत्यंत निश्चल और स्वर्गमोक्षादि फल देनेवाला ध्यान अंतर्मुहूर्त तक रहता है।

ध्यायते येन तद्ध्यानं यो ध्यायति स एव वा।
यत्र वा ध्यायते यद्वा ध्यातिर्वा ध्यानमिष्यते ६७

जिसके द्वारा ध्यान किया जाय वह भी ध्यान है, जो ध्यान वा चिंतवन किया जाता है वह भी ध्यान है, जिसमें ध्यान वा चिंतवन किया जाय वह भी ध्यान है और ध्यान करने वा चिंतवन करनेमात्रको भी ध्यान कहते हैं ॥

श्रुतज्ञानेन मनसा यतो ध्यायन्ति योगिनः ।
ततः स्थिरं मनो ध्यानं श्रुतज्ञानं च तात्त्विकं॥६८॥

योगी लोग श्रुतज्ञानरूप मनके द्वाराही ध्यान करते हैं इसलिये श्रुतज्ञानरूप जो स्थिर मन है वही वास्तविक ध्यान कहलाता है ॥ ६८॥

ज्ञानादर्थांतरादात्मा तस्माज्ज्ञानं न चान्यतः ।
एकं पूर्वापरीभूतं ज्ञानमात्मेति कीर्त्तितं ॥ ६९ ॥

ज्ञानसे भिन्न आत्मा नहीं है और आत्मासे भिन्न ज्ञान नहीं है पूर्वापरीभूत एक ज्ञान ही आत्मा कहलाता है ॥६९॥

ध्येयार्थालंबनं ध्यानं ध्यातुर्यस्मान्न भिद्यते ।
द्रव्यार्थिकनयात्तस्माद्ध्यातैव ध्यानमुच्यते ॥७०॥

ध्यान करने योग्य जो ध्येय पदार्थ हैं उनका अवलंबन करना चिंतवन करना ध्यान कहलाता है । तथा वह ध्यान द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे ध्यान करनेवाले ध्यातासे कभी भिन्न नहीं होता है इस कारणसे ध्याताको ही ध्यान कह देते हैं ॥ ७० ॥

ध्यातरि ध्यायते ध्येयं यस्मान्निश्चयमाश्रितैः।
तस्मादिदमपि ध्यानं कर्माधिकरणद्वयं॥ ७१ ॥

निश्चयनयका आश्रय लेनेवाले पुरुषोंके द्वारा ध्यान करने योग्य जो ध्येय पदार्थ है उसका ध्यान करनेवाले आत्मामें ही ध्यान किया जाता है इसलिये कर्म ( जिस पदार्थका अवलंबन लेकर ध्यान किया जाता है) और अधिकरण (जिस आत्मामें ध्यान किया जाता है ) ये दोनों भी ध्यान ही कहलाते हैं ॥ ७१ ॥

इष्टे ध्येये स्थिरा बुद्धिर्या स्यात्संतानवर्तिनी।
ज्ञानांतरापरामृष्टा सा ध्यातिर्ध्यानमीरिता ७२

ध्यान करने योग्य जो स्थिर पदार्थ है उसमें अन्य ज्ञानका ( अन्य पदार्थोंके ज्ञानका ) स्पर्श न करनेवाली जो संतान रूप स्थिर बुद्धि है अर्थात जो बुद्धि अनेक क्षण तक उसीमें स्थिर रहती है उसीको ध्याति वा ध्यान कहते हैं ॥ ७२ ॥

एकं च कर्त्ता करणं कर्माधिकरणं फलं।
ध्यानमेवेदमखिलं निरुक्तं निश्चयान्नयात् ॥ ७३ ॥

यदि निश्चय नयसे देखा जाय तो एक ध्यान ही कर्ता करण कर्म अधिकरण और फल इन रूप पड़ता है ॥ ७३ ॥

स्वात्मानं स्वात्मनि स्वेन ध्यायेत्स्वस्मै स्वतो यतः।
षट्कारकमयस्तस्माद्ध्यानमात्मैव निश्चयात् ॥७४॥

इसका भी कारण यह है कि निश्चय नयसे यह आत्मा अपने ही आत्माके लिये अपने ही आत्मासे अपने ही आत्माके द्वारा अपने ही आत्मामें अपने ही आत्माका ध्यान करता है इसलिये इन छहों कारक रूप जो आत्मा है वही ध्यान कहलाता है ॥ ७४ ॥

संगत्यागः कषायाणां निग्रहो व्रतधारणं ।
मनोक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यानजन्मने ॥७५॥

परिग्रहोंका त्याग करना, कषायोंका निग्रहकरना, व्रतोंका धारण करना, तथ मन इंद्रियोंका जीतना यह सब ध्यान धारण करनेकी सामग्री है ॥ ७५ ॥

इन्द्रियाणां प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च मनः प्रभुः ।
मन एव जयेत्तस्माज्जिते तस्मिन् जितेन्द्रियः ७६

इंद्रियोंकी प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिमें मन ही स्वामी है सबसे पहिले मनको ही जीतना चाहिये क्योंकि मनके जीत लेनेपर इंद्रियोंका विजय अपने आप हो जाता है ॥ ७६ ॥

ज्ञानवैराग्यरज्जूभ्यां नित्यमुत्पथवर्तिनः ।
जितचित्तेन शक्यन्ते धर्तुमिन्द्रियवाजिनः ७७

जिसने अपना चित्त जीत लिया है वह पुरुष सदा कुमार्गमें जानेवाले इंद्रियरूपी घोडोंको ज्ञान और वैराग्यरूपी लगामकी दोनों रस्सियोंसे पकड सकता है—वशमें कर सकता है । भावार्थ

मनको वश करनेवाला पुरुष ज्ञान और वैराग्यके द्वारा इंद्रियों-को भी वश कर सकता है ॥ ७७ ॥

येनोपायेन शक्येत सन्नियन्तुं चलं मनः।
स एवोपासनीयोऽत्र न चैव विरमेत्ततः ॥ ७८ ॥

इस ध्यान धारण करनेके समय जिस उपायसे यह चंचल मन नियंत्रित किया जासके उसी उपायकी उपासना करनी चाहिये और फिर उस उपायसे कभी नहीं हटना चाहिये, अर्थात् उसी उपायको सदा काममें लाते रहना चाहिये ॥७८

संचिंतयन्ननुप्रेक्षाः स्वाध्याये नित्यमुद्यतः।
जयत्येव मनः साधुरिन्द्रियार्थपराङ्मुखः ॥७९॥

जो साधु, रूप रस आदि इंद्रियोंके विषयोंसे सदा परा-ङ्मुख रहता है। बारह अनुप्रेक्षाओंका चिंतवन करता रहता है और स्वाध्याय करनेमें सदा उद्यमी रहता है वह मनको अवश्य जीतता है ॥ ७९ ॥

स्वाध्यायः परमस्तावज्जपः पंचनमस्कृतेः।
पठनं वा जिनेन्द्रोक्तशास्त्रस्यैकाग्रचेतसा ॥८०॥

पंचनमस्कार मंत्रका जप करना अथवा एकाग्र चित्त होकर श्री जिनेंद्रदेवके कहे हुए शास्त्रोंका पठन पाठन कर-ना परम स्वाध्याय कहलाता है ॥ ८० ॥

स्वाध्यायाद्ध्यानमध्यास्तां ध्यानात्स्वाध्यायमामनेद्।
ध्यानस्वाध्यायसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥८१॥

ऐसे स्वाध्यायसे ध्यानका अभ्यास होता है तथा ध्यानसे स्वाध्यायकी वृद्धि होती है और ध्यान तथा स्वाध्याय इन दोनों सम्पदाओंसे परमात्मा प्रकाशित होता है।

येऽत्राहुर्न हि कालोऽयं ध्यानस्य ध्यायतामिति।
तेर्हन्मतानभिज्ञत्वं ख्यापयंत्यात्मनः स्वयं॥८२॥

जो लोग यह कहते हैं कि ध्यानका यह समय (कलियुग) नहीं है अर्थात् इस कालमें ध्यान नहीं हो सकता इसलिये इस कालमें ध्यान नहीं करना चाहिए वे लोग अपने आप ही अपनी अरहंत देवके कहे हुए मतकी अजानकारीको प्रगट करते हैं ॥ ८२ ॥

अत्रेदानीं निषेधंति शुक्लध्यानं जिनोत्तमाः।
धर्म्यध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणीभ्यां प्राग्विवर्त्तिनां ८३

इस कलिकालमें जिनेंद्रभगवानने शुक्ल ध्यानका निषेध किया है कि वह नहीं हो सकता परन्तु क्षपक और उपशमक श्रेणी चढनेवालोंसे पहिले धर्मध्यान तो कहा ही है। उसका होना तो बतलाया ही है ॥ ८३ ॥

यत्पुनर्वज्रकायस्य ध्यानमित्यागमे वचः।
श्रेण्योर्ध्यानं प्रतीत्योक्तं तन्नाधस्तान्निषेधकं॥८४॥

वज्रवृषभनाराच संहननवालोंके ही ध्यान होता है ऐसा जो आगममें कहा हैं वह शुक्लध्यानके प्रति वचन है अर्थात् शुक्लध्यान वज्रवृषभनाराच संहननवालोंके ही होता है और वह संहनन इस कलिकालमें होता नहीं है परंतु श्रेणी चढने-वालोंसे नीचे जो ध्यान होता है वह तो होता ही है उसका वह वचन निषेधक कैसे हो सकता है?॥ ८४ ॥

ध्यातारश्चेन्न सन्त्यद्य श्रुतसागरपारगाः।
तत्किमल्पश्रुतैरन्यैर्न ध्यातव्यं स्वशक्तितः ॥८५॥

इस कलिकालमें यदि शास्त्ररूपी समुद्रके पारको पहुंचे हुये मुनिगण नहीं हैं तो क्या अल्प शास्त्रोंके जाननेवाले लो-गोंको अपनी अपनी शक्तिके अनुसार ध्यान न करना चा-हिये? भावार्थ धर्म्यध्यान सबको अपनी शक्त्यनुसार करना उचित है॥ ८५ ॥

चरितारो न चेत्सन्ति यथाख्यातस्य संप्रति।
तत्किमन्ये यथाशक्तिमाचरन्तु तपस्विनः ॥८६॥

यदि इससमय यथाख्यात चारित्रको आचरण करने-वाले लोग नहीं है तो क्या अपनी अपनी शक्तिके अनुसार अन्य तप भी नहीं धारण करना चाहिये। भावार्थ— ऊंचे द-र्जेका यदि तप नहीं तप सक्ते, ध्यान नही कर सक्ते तो उससे कुछ कम दर्जेका भी उत्तम तप या ध्यान भी क्या नहीं करना चाहिये? ॥ ८६ ॥

सम्यग्गुरूपदेशेन समभ्यस्यन्ननारतं ।
धारणासौष्ठवाद्ध्यानं प्रत्ययानपि पश्यति ॥८७॥

गुरुके उपदेशसे अच्छी तरह बराबर जो मनुष्य ध्यानका अभ्यास करता है वह निश्चयसे ध्यानके कारण और ध्यानको प्राप्त हो जाता है ॥ ८७ ॥

यथाभ्यासेन शास्त्राणि स्थिराणि स्युर्महान्त्यपि ।
तथा ध्यानमपि स्थैर्य्यं लभेताभ्यासवर्तिनां ॥८८॥

जिसप्रकार अभ्याससे बडे २ शास्त्रोंका ज्ञान स्थिर हो जाता है उसी प्रकार अभ्यास करनेसे ध्यान भी स्थिर हो जाता है ॥ ८८ ॥

यथोक्तलक्षणो ध्याता ध्यातुमुत्सहते यथा ।
तदेव परिकर्म्मादौ कृत्वा ध्यायतु धीरधीः ॥८९॥

जिसप्रकार पूर्वमें कहे गये लक्षणवाला ध्याता ध्यान करनेमें उत्साहवान बना रहे उसी प्रकार बुद्धिमान पुरुषको परिकर्म आदिका सहारा ले ध्यान करना चाहिये ॥ ८९ ॥

शून्यागारे गुहायां वा दिवा वा यदि वा निशि ।
स्त्रीपशुक्लीबजीवानां क्षुद्राणामप्यगोचरे ॥ ९० ॥
अन्यत्र वा क्वचिद्देशे प्रशस्ते प्रासुके समे ।
चेतनाचेतनाशेषध्यानविघ्नविवर्जिते ॥ ९१ ॥

भूतले वा शिलापट्टे सुखासीनः स्थितोऽथवा ।
सममृज्वायतं गात्रं निःकंपावयवं दधत् ॥ ९२ ॥
नासाग्रन्यस्तनिष्पंदलोचनं मंदमुच्छ्वसन् ।
द्वात्रिंशद्दोषनिर्मुक्तकायोत्सर्गव्यवस्थितः ॥९३॥
प्रत्याहृत्याक्षलुंटाकांस्तदर्थेभ्यः प्रयत्नतः ।
चिंतां चाकृष्य सर्वेभ्यो निरुध्य ध्येयवस्तुनि ॥९४॥
निरस्तनिद्रो निर्भीतिर्निरालस्यो निरंतरं ।
स्वरूपं पररूपं वा ध्यायेदंतर्विशुद्धये ॥ ९५ ॥

किसी सूने मकानमें अथवा किसी गुफामें दिनमें अथवा रातमें तथा और भी किसी ऐसे स्थानमें जिसमें स्त्री पशु नपुन्सक जीव न जा सकें अथवा और भी कोई क्षुद्र प्राणी न जा सकें, जो स्थान प्रशंसनीय हो, प्रासुक वा निर्जीव हो, जो चेतन अचेतन आदिके द्वारा होनेवाले सब तरहके ध्यानोंके विघ्नोंसे रहित हो ऐसा स्थान चाहे पृथ्वी हो चाहे शिला हो उस पर ध्यान करनेवाला सुखसे बैठे अथवा सीधा एकसा लम्बाई रूपमें खडा रहे शरीरको इसतरह रक्खे जिसमें शरीरके अवयव हिल न सकें, स्पंद रहित नेत्रोंको नासिकाके अग्र भाग पर धारण करे, धीरे धीरे श्वास ले, बत्तीस दोषोंसे रहित कायोत्सर्ग धारण करे, इंद्रिय रूपी लुटेरोंको उनके रूप, रस, गन्ध आदि

विषयोंसे बड़े प्रयत्नसे दूर रक्खे, अन्य सब पदार्थोंसे अ-पना चिंतवन हटाकर केवल ध्यान करने योग्य किसी एक पदार्थमें अपना चिंतवन स्थिर रक्खे, वह ध्यान करनेवाला निद्राको दूर करे भयको दूर करे और आलस्यको दूर करे तथा अपने अन्तरात्माको शुद्ध करनेकेलिये सदा अपने आत्माके स्वरूपको अथवा अन्य किसी पदार्थके स्वरूपको चिंतवन करे ॥ ९०—९५ ॥

निश्चयाद् व्यवहाराच्च ध्यानं द्विविधमागमे।
स्वरूपालंबनं पूर्वं परालंबनमुत्तरं ॥ ९६ ॥

शास्त्रोंमें निश्चय और व्यवहारके भेदसे दो प्रकारका ध्यान बतलाया है उनमेंसे पहिला निश्चय ध्यान तो स्वरू-पालंबन अर्थात् केवल अपने आत्माको आलंबन लेकर होता है और दूसरा व्यवहार ध्यान परालंबन अर्थात आत्माके सिवाय अन्य पदार्थोंको आलम्बन लेकर होता है ॥ ९६ ॥

अभिन्नमाद्यमन्यत्तु भिन्नं तत्तावदुच्यते।
भिन्ने हि विहिताभ्यासोऽभिन्नं ध्यायत्यनाकुलः ॥

इसी प्रकार पहिला निश्चय ध्यान आत्मासे अभिन्न है और दूसरा भिन्न है। अब आगे भिन्न ध्यानको कहते हैं क्योंकि भिन्न ध्यानमें अभ्यास करनेसे यह जीव निराकुल होकर अभिन्न ध्यानको कर सक्ता है ॥ ९७ ॥

आज्ञापायो विपाकं च संस्थानं भुवनस्य च।
यथागममविक्षिप्तचेतसा चिंतयेन्मुनिः ॥ ९८ ॥

मुनियोंको आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाक विचय और लोकका संस्थान विचय इन चारों धर्म्यध्यानोंको शास्त्रोंमें लिखी हुई विधिके अनुसार निराकुल चित्तसे चिंतवन करना चाहिये ॥ ९८ ॥

नाम च स्थापनं द्रव्यं भावश्चेति चतुर्विधं।
समस्तं व्यस्तमप्येतद्ध्येयमध्यात्मवेदिभिः ॥ ९९ ।

अध्यात्मको जाननेवाले मुनियोंको समस्त और व्यस्त अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थ अथवा अलग अलग पदार्थ नाम स्थापना द्रव्य भाव चारों प्रकारसे ध्यान करना चाहिये ॥

वाच्यस्य वाचकं नाम प्रतिमा स्थापना मता।
गुणपर्ययवद्द्रव्यं भावः स्याद् गुणपर्ययौ ॥ १०० ॥

वाच्यका जो वाचक है ( जैसे अरहंतका वाचक अर्हन् ऋषभदेव आदि ) वह नाम कहलाता है उसकी प्रतिमा स्थापना कहलाती है जो गुण पर्याय सहित हो उसे द्रव्य कहते हैं और गुण तथा पर्यायोंको भाव कहते हैं ॥ १०० ॥

आदौ मध्येऽवसाने यद्वाङ्मयं व्याप्य तिष्ठति।
हृदि ज्योतिष्मदुद्गच्छन्नामध्येयं तदर्हतां ॥१०१ ॥

हृदयमें जो ज्योतिःस्वरूप अरहंत देवोंका प्रकाशमान नाम है जो कि आदि मध्य और अन्तमें व्याप्त होकर वाङ्मयरूप ( अक्षर रूप ) रहता है उसको नाम ध्यान कहते हैं ॥ १०१ ॥

हृत्पंकजे चतुःपत्रे ज्योतिष्मंति प्रदक्षिणं ।
असिआउसाक्षराणि ध्येयानि परमेष्ठिनां ॥ १०२ ॥

उसकी विधि इस प्रकार है ज्योतिः स्वरूप और चार पत्रोंवाला जो हृदय कमल है उसमें परमेष्ठियोंके वाचक अ सि आ उ सा अक्षरोंका प्रदक्षिणा रूपसे ध्यान करना चाहिये ॥ १०२ ॥

ध्यायेदइउएओ च तद्वन्मंत्रानुदर्चिषः ।
मत्यादिज्ञाननामानि मत्यादिज्ञानसिद्धये ॥

इसी प्रकार मति आदि पांचों ज्ञानोंको सिद्ध करनेके लिये जिनसे ऊपरकी ओर अग्नि निकल रही है ऐसे मति श्रुत आदि पांचों ज्ञानोंके वाचक अ इ उ ए ओ इन मंत्रोंका भी ध्यान करना चाहिये ॥ १०३ ॥

सप्ताक्षरं महामंत्रं मुखरंध्रेषु सप्तसु ।
गुरूपदेशतो ध्यायेदिच्छन् दूरश्रवादिकं ॥ १०४ ॥

इसी तरह गुरुके उपदेशके अनुसार सुनाई देने आदि दोषोंको दूर रखनेकी इच्छा करता हुआ सातो मुख रन्ध्रों

में ( मुखके सातों छिद्रोंमें ) "णमो अरहंताणं" इन सात अक्षरोंके महामन्त्रका ध्यान करे ॥ १०४ ॥

हृदयेऽष्टदलं पद्मं वर्गैः पूरितमष्टभिः ।
दलेषु कर्णिकायां च नाम्नाधिष्ठितमर्हतां ॥ १०५ ॥

अथवा हृदयमें आठ दलका कमल बनावे उसके आठों दल आठों वर्गोंसे पूर्ण करे तथा कर्णिकामें अरहंतका नाम लिखकर उसका ध्यान करे ॥ १०५ ॥

गणभृद्वलयोपेतं त्रिःपरीतं च मायया ।
क्षोणीमंडलमध्यस्थं ध्यायदभ्यर्चयेच्च तत् ॥ १०६ ॥

अथवा जिसके मध्य भागमें क्षोणीमंडल विराजमान है और जो मायासे तीनबार घिरा हुआ है ऐसे गणभृत् वलय यन्त्रका ध्यान करे तथा उसकी पूजा करे ॥ १०६ ॥

अकारादिहकारान्ताः मंत्राः परमशक्तयः ।
स्वमंडलगता ध्येया लोकद्वयफलप्रदाः ॥ १०७ ॥

अथवा दोनों लोकोंमें फल देनेवाले और परम शक्तिमान ऐसे अपने मंडलमें प्राप्त हुए अकारसे हकार तक अक्षरात्मक मंत्रोंका ध्यान करे ॥ १०७ ॥

इत्यादीन्मंत्रिणो मंत्रानर्हन्मंत्रपुरस्सरान् ।
ध्यायन्ति यदिह स्पष्टं नामध्येयमवैहि तत् ॥ १०८ ॥

इस प्रकार मंत्रोंका ध्यान करनेवाले योगी पुरुष अर-हंतके वाचक मंत्रोंको आदि ले कर ऊपर लिखे हुए मंत्रोंका ध्यान करते हैं उसे नाम ध्यान कहते हैं ॥ १०८ ॥

जिनेंद्रप्रतिबिंबानि कृत्रिमाण्यकृतानि च ।
यथोक्तान्यागमे तानि तथा ध्यायेदशंकितं ॥ १०९॥

अथवा सब तरहके सन्देहोंको दूर कर शास्त्रोंमें कही हुई कृत्रिम और अकृत्रिम ऐसी भगवान जिनेंद्रदेवकी प्रति-माओंका ध्यान करना चाहिये यह स्थापना ध्यान कहलाता है ॥ १०९ ॥

यथैकमेकदा द्रव्यमुत्पित्सु स्थास्नु नश्वरं ।
तथैव सर्व्वदा सर्वमिति तत्त्वं विचिंतयेत् ॥ ११०॥

कोई द्रव्य किसी समय उत्पन्न होनेवाला हो नष्ट होने-वाला हो और ध्रुवरूप वा स्थिर रहनेवाला हो उसको सदा उसी रूपसे चिंतवन करना द्रव्यध्यान कहलाता है ॥ ११० ॥

चेतनोऽचेतनो वार्थो यो यथैव व्यवस्थितः ।
तथैव तस्य यो भावो याथात्म्यं तत्त्वमुच्यते ॥१११॥

चेतन वा अचेतन रूप जो पदार्थ जिस तरह व्यवस्थित है तथा उसका जो भाव है उसको उसी प्रकार कहना य-थार्थ तत्त्व कहलाता है उसके ध्यानको भाव ध्यान कहते हैं ॥ १११ ॥

अनादिनिधने द्रव्ये स्वपर्यायाः प्रतिक्षणं।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले ॥११२॥

यह द्रव्य अनादि और अनिधन है अर्थात् न कभी उत्पन्न हुआ है और न कभी नष्ट होगा जिसप्रकार पानीमें पानीकी लहरें उत्पन्न होती रहती हैं और उसीमें नष्ट होती रहती हैं उसीप्रकार इस द्रव्यमें भी इसकी पर्यायें प्रत्येक क्षणमें उत्पन्न होती रहती हैं और प्रत्येक क्षणमें नष्ट होती रहती हैं ॥ ११२ ॥

यद्विवृत्तं यथापूर्वं यच्च पश्चाद्विवर्त्स्यति।
विवर्तते यदत्राद्य तदेवेदमिदं च तत् ॥ ११३ ॥

एक द्रव्यकी जो पर्यायें पहिले विकसित हो चुकी हैं आगे विकसित होनेवाली हैं तथा आज जो विकसित हो रही हैं वे सब ही द्रव्यकी पर्यायें कहलाती हैं, और उनके समूहको ही द्रव्य कहते हैं ॥ ११३ ॥

सहवृत्ता गुणास्तत्र पर्यायाः क्रमवर्त्तिनः।
स्यादेतदात्मकं द्रव्यमेते च स्युस्तदात्मकाः ॥११४॥

जो सदा साथ रहें उन्हें गुण कहते हैं और जो अनुक्रमसे हों उन्हें पर्याय कहते हैं इन गुण और पर्याय रूपही द्रव्य कहलाता है तथा गुण पर्याय भी द्रव्य रूप ही कहलाते हैं ॥ ११४ ॥

एवंविधमिदं वस्तु स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकं।
प्रतिक्षणमनाद्यंतं सर्व्वं ध्येयं यथास्थितं॥ ११५॥

इसप्रकार ये सब द्रव्य प्रतिक्षण उत्पाद व्यय और ध्रौव्य रूप हैं तथा अनादि और अनिधन हैं इन सबका जो यथार्थ स्वरूप है वह सब ध्यान करने योग्य है॥११५॥

अर्थव्यंजनपर्याया मूर्त्तामूर्त्ता गुणाश्च ये।
यत्र द्रव्ये यथावस्थास्तांश्च तत्र तथा स्मरेत् ॥११६॥

इसके सिवाय जो अर्थ पर्याय हैं व्यंजन पर्याय हैं मूर्त अमूर्तरूप गुण हैं तथा वे पर्याय और गुण जिस द्रव्यमें जिस रीतिसे मौजूद हैं उन सबको उसी प्रकार चिंतवन करना चाहिये॥ ११६॥

पुरुषः पुद्गलः कालो धर्माधर्मौ तथांबरं।
षड्विधं द्रव्यमाम्नातं तत्र ध्येयतमः पुमान्॥११७॥

जीव, पुद्गल, काल, धर्म, अधर्म और आकाश ये छह द्रव्य हैं इनमें सबसे उत्तम ध्यान करने योग्य जीव द्रव्य ही है॥ ११७॥

सति हि ज्ञातरि ज्ञेयं ध्येयतां प्रतिपद्यते।
ततो ज्ञानस्वरूपोऽयमात्मा ध्येयतमः स्मृतः॥११८

इसका भी कारण यह है कि ज्ञाताके होते हुए ही कोई भी ज्ञेय पदार्थ ध्यान करने योग्य हो सक्ता है इसी-

लिये ज्ञान स्वरूप यह आत्मा ही सबसे उत्तम ध्यान करने योग्य माना गया है ॥ ११८ ॥

तत्रापि तत्त्वतः पंच ध्यातव्याः परमेष्ठिनः ।
चत्वारः सकलास्तेषु सिद्धः स्वामीति निष्कलः ॥

इसमें भी वास्तविक रीतिसे पांच परमेष्ठी ही ध्यान करने योग्य हैं इन परमेष्ठियोंमें भी चार तो ( अरहंत आचार्य उपाध्याय साधु ) शरीर सहित हैं और सबके स्वामी सिद्ध शरीररहित हैं ॥ ११९ ॥

अनंतदर्शनज्ञानसम्यक्त्वादिगुणात्मकं ।
स्वोपात्तानंतरत्यक्तशरीराकारधारिणः ॥ १२० ॥

साकारं च निराकारममूर्त्तमजरामरं ।
जिनबिंबमिव स्वच्छस्फटिकप्रतिबिंबितं ॥ १२१ ॥

लोकाग्रशिखरारूढमुद्‌ढसुखसंपदं ।
सिद्धात्मानं निराबाधं ध्यायेन्निर्धूतकल्मषं १२२

जो अनंत दर्शन अनंत ज्ञान और अनंत सम्यक्त्व आदि गुणस्वरूप हैं, कर्मोदयसे प्राप्त हुए और कर्मोंके नष्ट करनेसे छोडे हुए शरीरके आकारको धारण करनेवाले हैं इसलिये जो साकार हैं, तथा साकार होकर भी निराकार हैं, अमूर्त हैं जरामरणसे रहित हैं जिनबिंबके समान स्वच्छ स्फटिककी प्रतिमाके समान हैं, जो लोकके अग्रभागपर विरा-

जमान हैं सुखरूपी संपदासे भरपूर हैं जो सब तरहकी बाधा-ओंसे रहित हैं और समस्त पापोंको नाश करनेवाले हैं ऐसे सिद्धोंका ध्यान करना चाहिये ॥ १२०–१२२ ॥

तथाद्यमाप्तमाप्तानां देवानामधिदैवतं ।
प्रक्षीणघातिकर्माणं प्राप्तानंतचतुष्टयं ॥ १२३ ॥
दूरमुत्सृज्य भूभागं नभस्तलमधिष्ठितं ।
परमौदारिकस्वांगप्रभाभर्त्सितभास्करं ॥ १२४ ॥
चतुस्त्रिंशन्महाश्चर्यैः प्रातिहार्यैश्च भूषितं ।
मुनितिर्यङ्नरस्वार्गिसभाभिः सन्निषेवितं ॥ १२५ ॥
जन्माभिषेकप्रमुखप्राप्तपूजातिशायिनं ।
केवलज्ञाननिर्णीतविश्वतत्त्वोपदेशिनं ॥ १२६ ॥
प्रभास्वल्लक्षणाकीर्णसम्पूर्णोदग्रविग्रहं ।
आकाशस्फटिकांतस्थज्वलज्ज्वालानलोज्वलं ॥१२७॥
तेजसामुत्तमं तेजो ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमं ।
परमात्मानमर्हंतं ध्यायेन्निःश्रेयसाप्तये ॥ १२८ ॥

इसीतरह पंच परमेष्ठियोंमें जो सबसे प्रथम देवोंके भी देव वा देवाधिदेव हैं जिन्होंने घातिया कर्मोंको नष्ट कर दिया है जिन्हें अनंत चतुष्टय प्राप्त होगया है जो पृथ्वीत-लको दूरसे ही परित्याग कर लोकाकाशके ऊपर विराजमान

हैं, परमौदारिक रूप अपने शरीरकी प्रभासे जिन्होंने सूर्यको भी तिरस्कृत कर दिया है जो चौंतीस अतिशय और आठों प्रातिहार्योंसे सुशोभित हैं, मुनि तिर्यंच मनुष्य और देवों के समूह सदा जिनकी सेवा करते रहते हैं जन्माभिषेक आदि अनेक पूजाके अतिशय जिनको प्राप्त हुए हैं, केवल ज्ञानके द्वारा जिन्होंने संसारके समस्त तत्त्वोंके उपदेश देने वालोंका निर्णय किया है, समस्त लक्षणोंसे भराहुआ जिन का परमोत्तम सम्पूर्ण शरीर प्रकाशमान है, आकाश स्फटिकके भीतर जलती हुई ज्वालारूप अग्निके समान जो उज्ज्वल हैं, जिनका तेज तेजस्वियोंमें भी उत्तम है जिनकी ज्योति ज्योतिवालोंमें भी सबसे उत्तम है और जिनका आत्मा परमात्मा अवस्थाको प्राप्त होगया है ऐसे अरहंत देवका ध्यान केवल मोक्ष प्राप्त होनेके लिये करना चाहिये॥२३-२८॥

वीतरागोऽप्ययं देवो ध्यायमानो मुमुक्षुभिः।
स्वर्गापवर्गफलदः शक्तिस्तस्य हि तादृशी ॥१२९॥

मोक्षकी इच्छा करनेवालोंके द्वारा ध्यान किये गये भगवान वीतराग अरंहत देव अवश्य ही स्वर्ग और मोक्षरूप फलको देनेवाले हैं क्योंकि उनमें शक्ति ही इसतरहकी है॥ १२९ ॥

सम्यग्ज्ञानादिसंपन्नाः प्राप्तसप्तमहर्धयः।
तथोक्तलक्षणा ध्येयाः सूर्युपाध्यायसाधवः ॥१३०॥

इसीतरह जो सम्यग्ज्ञानादि सहित हैं जिन्हें सातों महर्षियां प्राप्त हुई हैं और शास्त्रोंमें कहे हुए गुण और लक्षणोंसे जो विराजमान हैं ऐसे आचार्य उपध्याय और साधुका ध्यान भी करना चाहिये ॥ १३० ॥

एवं नामादिभेदेन ध्येयमुक्तं चतुर्विधं ।
अथवा द्रव्यभावाभ्यां द्विधैव तदवास्थितं ॥ १३१॥

इस प्रकार नाम स्थापना द्रव्य भावके भेदसे ध्यान करने योग्य पदार्थ चार प्रकारका बतलाया अथवा द्रव्य और भावके भेदसे यह दो प्रकारका भी माना जाता है ॥१३१॥

द्रव्यध्येयं बहिर्वस्तु चेतनाचेतनात्मकं ।
भावध्येयं पुनर्ध्येयसन्निभध्यानपर्ययः ॥१३२॥

चेतनाचेतनात्मक जो बाह्य पदार्थ हैं वे सब द्रव्य ध्येय ( द्रव्य ध्यान करने योग्य ) गिने जाते हैं और ध्येयके समान ही जो ध्यानका पर्याय है अर्थात् जिसमें ध्येय और ध्यानका कोई अंतर नहीं है वह भाव ध्येय माना जाता है ॥ १३२ ॥

ध्याने हि बिभ्रते स्थैर्यं ध्येयरूपं परिस्फुटं ।
आलेखितमिवाभाति ध्येयस्यासन्निधावपि ॥१३३ ॥

यदि ध्येय पदार्थ समीप न हो तो भी ध्यानमें ध्येय रूप पदार्थ व्यक्त रूपसे स्थिर प्रकाशमान होता है और उस

समय वह ध्येय रूप पदार्थ चित्रितके समान निश्चल जान प-
ड़ता है ॥ १३३ ॥

धातुपिंडे स्थितश्चैवं ध्येयोऽर्थो ध्यायते यतः।
ध्येयपिंडस्थमित्याहुरत एव च केवलं ॥ १३४॥

इस ध्यानमें धातुपिंडमें ठहरा हुआ जो ध्येय पदार्थ है उसका ध्यान किया जाता है इसीलिये इस ध्यानको केवल ध्येय पिंडस्थ कहते हैं ॥ १३४ ॥

यदा ध्यानबलाद्ध्याता शून्यीकृत्य स्वविग्रहं।
ध्येयस्वरूपाविष्टत्वात्तादृक् संपद्यते स्वयं॥ १३५ ॥
तदा तथाविधध्यानसंवित्तिध्वस्तकल्पनः।
स एव परमात्मा स्याद्वैनतेयश्च मन्मथः ॥ १३६ ॥

जिस समय ध्यान करने वाला ध्यानके बलसे अपने शरीरको न कुछ समझ कर ध्येयके स्वरूपमें प्रविष्ट हो जाता है अर्थात् स्वयं ध्येयमें मिल जाता है और ध्येय रूप हो जाता है उस समय वह उस ध्यान रूपी ज्ञानसे सब कल्पनाओंको नष्ट कर देता है अर्थात् वह निर्विकल्प हो जाता है इसलिये वही ध्याता परमात्मा कहलाता है वही वैनतेय कहा जाता है और वही मन्मथके नामसे पुकारा जाता है ॥१३५-१३६॥

सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरणं स्मृतं।
एतदेव समाधिः स्याल्लोकद्वयफलप्रदः ॥ १३७ ॥

उस ध्याताका ध्येय रूप हो जाना ही समरसीभाव कहलाता है उसीको एकीकरण कहते हैं और वही दोनों लोकोंमें उत्तम फल देनेवाली समाधि कहलाती है ॥१३७॥

किमत्र बहुनोक्तेन ज्ञात्वा श्रद्धाय तत्त्वतः।
ध्येयं समस्तमप्येतन्माध्यस्थ्यं तत्र बिभ्रता ॥ १३८॥

बहुत कहनेसे क्या? ध्यान धारण करनेवालेको यह बात यथार्थ रीतिसे जानलेना चाहिये और श्रद्धान करलेना चाहिये कि संसारमें जो कुछ ध्येय है वह सब माध्यस्थ्य कहलाता है ॥ १३८ ॥

माध्यस्थ्यं समतोपेक्षा वैराग्यं साम्यमस्पृहः।
वैतृष्ण्यं परमा शांतिरित्येकोऽर्थोऽभिधीयते ॥ १३९ ॥

माध्यस्थ्य, समता, उपेक्षा, वैराग्य, साम्य, निस्पृहता, वितृष्णा और परमशांति ये, सब एकार्थवाचक हैं अर्थात् इन सबका एकही अर्थ है ॥ १३९ ॥

संक्षेपेण यदत्रोक्तं विस्तारात्परमागमे।
तत्सर्वं ध्यानमेव स्याद्ध्यातेषु परमेष्ठिषु ॥ १४० ॥

यहां पर जो ध्यानका स्वरूप संक्षेपसे कहा है वह परमागममें बडे विस्तारसे कहा गया है केवल परमेष्ठियोंका ध्यान करनेसे वह सब ध्यान हो जाता है ॥ १४० ॥

व्यवहारनयादेवं ध्यानमुक्तं पराश्रयं।
निश्चयादधुना स्वात्मालंबनं तन्निरूप्यते ॥ १४१ ॥

इसप्रकार व्यवहार नयसे होनेवाले परावलंबन ध्यानका स्वरूप कहा। अब आगे निश्चय नयसे होने वाले स्वात्मावलंबन ध्यानका स्वरूप कहते हैं॥ १४१ ॥

ब्रुवता ध्यानशब्दार्थं यद्रहस्यमवादिशत्।
तथापि स्पष्टमाख्यातुं पुनरप्यभिधीयते ॥ १४२ ॥

ध्यान शब्दका अर्थ कहते समय ही जो कुछ उसका रहस्य था वह सब कह दिया गया था तथापि उसे स्पष्ट प्रगट करनेके लिये फिरसे कहते हैं ॥ १४२ ॥

दिधासुः स्वं परं ज्ञात्वा श्रद्धाय च यथास्थितिं।
विहायान्यदनार्थत्वात् स्वमेवावैतु पश्यतु ॥ १४३ ॥

ध्यानकी इच्छा करनेवालेको चाहिये कि वह पहले अपने आत्मा तथा आत्माके सिवाय अन्य समस्त पदार्थोंका स्वरूप जाने और उनकी जैसी अवस्था है वैसाही उनका श्रद्धान करे। तदनंतर अनर्थक होनेसे आत्माके सिवाय अन्य सबका परित्याग करदे और केवल अपने ही आत्माको जाने तथा केवल उसे ही देखे ॥ १४३ ॥

पूर्वं श्रुतेन संस्कारं स्वात्मन्यारोपयेत्ततः।
तत्रैकाग्रं समासाद्य न किंचिदपि चिंतयेत् ॥ १४४॥

उस स्वात्मालम्बन ध्यान करने वालेको चाहिये वह सबसे पहिले अपने आत्मामें श्रुतज्ञानका संस्कार करे और फिर अपने ही आत्मामें एकाग्र होकर अन्य किसी पदार्थ का चिंतवन न करे ॥ १४४ ॥

यस्तु नालंबते श्रौतीं भावनां कल्पनाभयात्।
सोऽवश्यं मुह्यति स्वास्मिन्बाहिश्चिंतां बिभर्ति च १४५

जो योगी कल्पनाके डरसे ( निर्विकल्प ध्यान न हो सकेगा इस डरसे ) श्रुत ज्ञानकी भावनाका आलंबन नहीं करता वह अवश्य ही अपने आत्मामें मोहित हो जाता है तथा अनेक बाह्य चिंताओंको भी वह धारण करता है ॥

तस्मान्मोहप्रहाणाय बहिश्चिंतानिवृत्तये।
स्वात्मानं भावयेत्पूर्वमैकाग्र्यस्य च सिद्धये॥ १४६ ॥

इसलिये मोहको नाश करनेके लिये तथा बाह्य ( आत्माके सिवाय अन्य पदार्थोंकी ) चिंताओंको दूर करनेके लिये और एकाग्रकी सिद्धि करनेकेलिये सबसे पहिले अपने आत्माका संस्कार करना चाहिये ॥ १४६ ॥

तथा हि चेतनोऽसंख्यप्रदेशो मूर्तिवर्जितः।
शुद्धात्मा सिद्धरूपोऽस्मि ज्ञानदर्शनलक्षणः ॥१४७॥

उसीको दिखलाते हैं— मैं चैतन्य हूं, असंख्यात प्रदेशोंवाला हूं और मूर्तिरहित हूं, मेरा आत्मा शुद्ध है,

सिद्ध स्वरूप है और ज्ञानमय है ॥ १४७ ॥

नान्योऽस्मि नाहमस्त्यन्यो नान्यस्याहं न मे परः।
अन्यस्त्वन्योऽहमेवाहमन्योन्यस्याहमेव मे ॥ १४८ ॥

मैं अन्य स्वरूप ( देह स्वरूप-अथवा आत्मेतर स्वरूप ) नहीं हूं और न अन्य ही मम स्वरूप है न मैं अन्यका हूं न मेरा अन्य है, अन्य २ ही है और मैं, मैं ही हूं अन्योन्य रूपसे मैं अपना ही ( आत्मा का ) हूं ( दूसरे का नहीं ) ॥ १४८ ॥

अन्यच्छरीरमन्योऽहं चिदहं तदचेतनं।
अनेकमेतदेकोऽहं क्षयीदमहमक्षयः ॥ १४९ ॥

शरीर अन्य है मैं अन्य हूं, मैं चैतन्य स्वरूप हूं शरीर जड है, शरीर अनेक रूप है मैं अकेला हूं, शरीर नाश होने वाला है और मैं कभी नाश होने वाला नहीं हूं ॥ १४९ ॥

अचेतनं भवे नाहं नाहमप्यस्त्यचेतनं।
ज्ञानात्माहं न मे कश्चिन्नाहमन्यस्य कस्यचित् १५०

यद्यपि संसारमें परिभ्रमण करनेसे मैं अचेतन सरीखा दिखता हूं परन्तु वास्तवमें मैं अचेतन नहीं हूं बल्कि ज्ञान स्वरूप हूं इस संसारमें न तो मेरा कोई है और न मैं अन्य किसीका हूं ॥ १५० ॥

योऽत्र स्वस्वामिसम्बन्धी ममाभूद्वपुषा सह।

यश्चैकत्वभ्रमस्सोऽपि परस्मान्न स्वरूपतः ॥ १५१॥

इस संसारमें शरीरके साथ जो कुछ मेरा स्वस्वामी सम्बन्ध है ( शरीर मेरा है और मैं उसका स्वामी हूं ) और दोनोंके ( शरीर और आत्माके ) एक होनेका कारण है वह सब दूसरेके सम्बन्धसे (कर्मोंके संबन्धसे) है वास्तविक रीतिसे नहीं है ॥ १५१ ॥

जीवादिद्रव्ययाथात्म्यज्ञातात्मकमिहात्मना ।
पश्यन्नात्मन्यथात्मानमुदासीनोऽस्मि वस्तुषु १५२

यह मेरा आत्मा अपनेही आत्माके द्वारा अपनेही आत्मामें जीवादि सब द्रव्योंके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाला है इसप्रकारके अपने आत्माको देखकर मुझे स्वयं अन्य समस्त पदार्थोंसे उदासीन रहना पडता है ॥ १५२ ॥

सद्द्रव्यमस्मि चिदहं ज्ञाता द्रष्टा सदाप्युदासीनः ।
स्वोपात्तदेहमात्रस्ततः पृथग्गगनवदमूर्त्तः ॥ १५३ ॥

मैं सद्द्रव्य हूं अर्थात् सब पदार्थोंमें उत्तम पदार्थ (जीव) रूप हूं मैं चैतन्य रूप हूं और फिर भी सदा उदासीन रहने वाला हूं, मेरा आत्मा ही मेरा शरीर है अर्थात् मैं आत्मा मात्र हूं शरीरसे सर्वथा भिन्न हूं और आकाशके समान अमूर्त हूं ॥ १५३ ॥

सन्नेवाहं सदाप्यस्मि स्वरूपादिचतुष्टयात् ।

असन्नेवास्मि चात्यंतं पररूपाद्यपेक्षया ॥ १५४ ॥

स्वरूपादि चतुष्टयसे ( स्वद्रव्य क्षेत्र काल भावसे ) मैं सदा अस्तित्व रूप हूं और परचतुष्टयसें ( पर द्रव्य क्षेत्र काल भावसे ) मैं सदा नास्तित्व रूप हूं ॥ १५४ ॥

यन्न चेतयते किंचिन्नाचेतयत किंचन ।
यच्चेतयिष्यते नैव तच्छरीरादि नास्म्यहं॥१५५॥

जो शरीर आदि जड पदार्थ न तो कभी चैतन्य स्वरूप हैं न कभी पहिले चैतन्य स्वरूप थे और न कभी आगे चैतन्य स्वरूप होगें ऐसे शरीरादि जडस्वरूप मैं नहीं हूं ॥

यदचेतत्तथा पूर्वं चेतिष्यति यदन्यथा ।
चेतनीयं यदत्राद्य तच्चिद्द्रव्यं समस्म्यहं॥१५६॥

जो पहिले भी इसी रूपसे चैतन्य स्वरूप था आगे भी रूपान्तरसे चैतन्य स्वरूप रहेगा और आज भी जो चैतन्य स्वरूप है ऐसे चैतन्यस्वरूप चिद्द्रव्यमय मैं हूं ॥ १५६ ॥

स्वयमिष्टं न च द्विष्टं किन्तूपेक्ष्यमिदं जगत् ।
नोऽहमेष्टा न च द्वेष्टा किन्तु स्वयमुपेक्षिता ॥

यह संसार स्वयं न तो इष्ट ( भला करनेवाला ) है और न द्विष्ट ( बुरा करनेवाला वा अनिष्ट ) है किंतु उपेक्ष्य अर्थात् इष्ट अनिष्टसे रहित उदासीन रूप है इसलिये मैं भी न तो किसीसे राग करता हूं और न किसीसे द्वेष

करता हूं किंतु मैं स्वयं उपेक्षा करनेवाला उदासीन रूप हूं ॥ १५७ ॥

मत्तः कायादयो भिन्नास्तेभ्योऽहमपि तत्त्वतः ।
नाऽहमेषां किमप्यस्मि ममाप्येते न किंचन १५८.

शरीरादिक मुझसे बिल्कुल भिन्न हैं और वास्तविक रीतिसे मैं भी उनसे बिल्कुल भिन्न हूं मैं इनका कोई नहीं हूं और ये मेरे कोई नहीं हैं ॥ १५८ ॥

एवं सम्यग्विनिश्चित्य स्वात्मानं भिन्नमन्यतः।
विधाय तन्मयं भावं न किंचिदपि चिंतये॥१५९॥

इसप्रकार अच्छीतरह निश्चयकर और अन्य सब पदार्थोंसे अपने आत्माको भिन्न मानकर मैं अपने भावोंको आत्ममय ही बना लेता हूं आत्माके सिवाय मैं अन्य किसीका चिंतवन नहीं करता ॥ १५९ ॥

चिंताभावो न जैनानां तुच्छो मिथ्यादृशामिव ।
दृग्बोधसाम्यरूपस्य यत्स्वसंवेदनं हि सः॥१६०॥

चिंताका अभाव होना ( आत्मामें लीन होनेसे अन्य चिंताओंका अभाव होना, एकाग्र होना ) जैनियोंमें मिथ्यादृष्टियोंके समान तुच्छ नहीं माना गया है क्योंकि वह चिंताका अभाव ( आत्मामें तल्लीन होना ) सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और समतारूप अपने आत्माका स्वसंवेदनरूप पड़ता है ॥ १६० ॥

वेद्यत्वं वेदकत्वं च यत्स्वस्य स्वेन योगिनः।
तत्स्वसंवेदनं प्राहुरात्मनोऽनुभवं दृशं ॥ १६१ ॥

योगियोंको जो अपने आप अपने आत्माका वेद्यत्व ( जानने योग्य ) और वेदकत्व ( ज्ञातापना ) जान पड़ता है अर्थात् आत्मा ही ज्ञाता है और आत्मा ही ज्ञेय है ऐसा जो ज्ञान होता है उसको स्वसंवेदन कहते हैं अथवा सम्यग्दर्शनरूप जो आत्माका अनुभव है उसको भी स्वसंवेदन कहते हैं ॥ १६१ ॥

स्वपरज्ञप्तिरूपत्वान्न तस्य कारणान्तरं।
ततश्चिंतां परित्यज्य स्वसंवित्त्यैव वेद्यतां ॥ १६२ ॥

वह स्वसंवेदन स्वपरज्ञप्तिरूप है अर्थात् आत्मा आत्मेतर पदार्थोंके ज्ञानस्वरूप है इसलिये उसकेलिये अन्य किसी कारणकी आवश्यकता नहीं है अर्थात् वह स्वसंवेदन स्वयं प्राप्त हो जाता है इसलिये सब चिंताओंको छोडकर स्वसंवेदनके द्वारा ही आत्माका अनुभव करना चाहिये १६२

दृग्बोधसाम्यरूपत्वाज्जानन् पश्यन्नुदासिता।
चित्सामान्यविशेषात्मा स्वात्मनैवानुभूयतां ॥१६३॥

यह आत्मा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और समतास्वरूप है इसलिये उसमें सब पदार्थोंको देखते और जानते हुए भी जो उदासीनपना है वह सामान्य और विशेष चैतन्य

स्वरूप है आत्माको उसे अपने ही आत्माके द्वारा अनुभव करना चाहिये ॥ १६३ ॥

कर्मजेभ्यः समस्तेभ्यो भावेभ्यो भिन्नमन्वहं।
ज्ञस्वभावमुदासीनं पश्येदात्मानमात्मना ॥ १६४ ॥

यह आत्मा कर्मोंके उदयसे उत्पन्न हुए सबतरहके राग द्वेष आदि भावोंसे भिन्न है तथा ज्ञस्वभाव ( ज्ञानस्वभाववाला ) और उदासीन है ऐसे अपने आत्माको अपने ही आत्माके द्वारा देखना चाहिये ॥ १६४ ॥

यन्मिथ्याभिनिवेशेन मिथ्याज्ञानेन चोज्झितं।
तन्माध्यस्थ्यं निजं रूपं स्वस्मिन्संवेद्यतां स्वयं॥१६५॥

जो अपने आत्माका स्वरूप मिथ्याश्रद्धान ( मिथ्यादर्शन ) और मिथ्या ज्ञानसे रहित है उसे माध्यस्थ्य कहते हैं वह आत्माका माध्यस्थ्यस्वभाव अपने ही आत्मामें अपने आप संवेदन करना चाहिये अर्थात् अपने आप उसका अनुभव करना चाहिये ॥ १६५ ॥

न हीन्द्रियधिया दृश्यं रूपादिरहितत्वतः।
वितर्कास्तन्न पश्यंति ते ह्यविस्पष्टतर्कणाः ॥ १६६ ॥

"यह उदासीन और मध्यस्थरूप आत्मा रूपादि गुणोंसे रहित है इसलिये वह इंद्रियज्ञानियोंको ( जिन्हें इंद्रियोंसे ज्ञान उत्पन्न होता है ऐसे छद्मस्थोंको ) कभी दिखाई नहीं

पड सकता " इसप्रकारके वितर्क करनेवालेको वह वास्त-वमें दिखाई नहीं पडता है क्योंकि उनका वह वितर्क स्पष्ट वा ठीक नहीं है ॥ १६६ ॥

उभयस्मिन्निरुद्धे तु स्याद्विस्पष्टमतींद्रियं।
स्वसंवेद्यं हि तद्रूपं स्वसंवित्त्यैव दृश्यतां ॥ १६७ ॥

जिससमय यह आत्मा माध्यस्थ्य और उदासीनतासे भरपूर रहता है उससमय वह अतींद्रिय होकर भी स्पष्ट प्रत्यक्ष होता है इसलिये उससमय उसका स्वरूप स्वसंवेद्य ( अपने आप जानने योग्य ) होता है अतएव स्वसंवित्तिसे ही उसे देखना चाहिये ॥ १६७ ॥

वपुषोऽप्रतिभासेऽपि स्वातंत्र्येण चकासते।
चेतना ज्ञानरूपेयं स्वयं दृश्यत एव हि ॥ १६८ ॥

यद्यपि उससमय शरीरका प्रतिभास वा ज्ञान नहीं होता है तथापि ज्ञानस्वरूप यह चेतना स्वतंत्ररूपसे प्रकाशित हो-ती ही है इसलिये वह अपने आप दिखाई पडती है ॥ १६८

समाधिस्थेन यद्यात्मा बोधात्मा नानुभूयते।
तदा न तस्य तद्ध्यानं मूर्छावान्मोह एव सः ॥१६९॥

यदि ध्यानमें लगा हुआ योगी अपने ज्ञानस्वरूप आत्माका अनुभव नहीं कर सकता तो समझना चाहिये कि उसका वह ध्यान वास्तविक ध्यान नहीं है वास्तवमें वह

योगी मूर्छासहित (परिग्रहोंमें आसक्त) मोही ही है ॥१६९॥

तदेवानुभवंश्चायमेकाग्र्यं परमृच्छति ।
तथात्माधीनमानंदमेति वाचामगोचरं ॥ १७० ॥

उस ज्ञानस्वरूप आत्माका अनुभव करता हुआ यह योगी सबसे उत्तम एकाग्रताको प्राप्त होता है और उस एकाग्रतामें आत्माके आधीन रहनेवाले उस परमानंदको प्राप्त होता है जो कि वचनसे कहा भी नहीं जा सकता ॥

यथा निर्वातदेशस्थः प्रदीपो न प्रकंपते ।
तथा स्वरूपनिष्ठोऽयं योगी नैकाग्र्यमुज्झति॥१७१॥

जिसप्रकार वायुरहित प्रदेशमें रक्खा हुआ दीपक कंपायमान नहीं होता ( सदा निश्चल ही रहता है ) उसीप्रकार अपने आत्माके स्वरूपमें तल्लीन हुआ योगी एकाग्रताको कभी नहीं छोडता ॥ १७१ ॥

तदा च परमैकाग्र्याद्वहिरर्थेषु सत्स्वपि ।
अन्यन्न किंचनाभाति स्वमेवात्मनि पश्यतः ॥१७२॥

उससमय परम एकाग्रता धारण करनेसे वह योगी अपने आत्मामें केवल अपने आत्माको ही देखता है और इसीलिये बाह्य पदार्थोंके रहते हुए भी उसे आत्माके सिवाय अन्य कुछ दिखाई नहीं पडता ॥ १७२ ॥

अत एवान्यशून्योऽपि नात्मा शून्यः स्वरूपतः ।

शून्याशून्यस्वभावोऽयमात्मनैवोपलभ्यते ॥१७३॥

इसलिये अन्य पदार्थोंसे शून्य होकर भी यह आत्मा अपने स्वरूपसे शून्य नहीं हो सकता अतएव शून्याशून्यस्वभाववाला यह आत्मा अपने ही आत्माके द्वारा प्राप्त होता है ॥ १७३ ॥

ततश्च यज्जगुर्मुक्त्यै नैरात्म्याद्वैतदर्शनं ।
तदेतदेव यत्सम्यगन्यापोढात्मदर्शनं ॥ १७४ ॥

इसलिये जो बहुतसे लोग नैरात्म्याद्वैतदर्शनको ही मुक्तिका उपाय बतलाते हैं वह अन्य समस्त पदार्थोंका अभावरूप जो आत्मदर्शन है वही नैरात्म्याद्वैतदर्शन कहलाता है क्योंकि प्रत्येक पदार्थ अन्य सब पदार्थोंका अभावरूप होता है स्वात्मा भी अन्य सब पदार्थोंका अभावरूप है इसलिये स्वात्मा ही नैरात्म्याद्वैतदर्शन ( अन्यात्मा के अभावरूप अर्थात् केवल स्वात्माद्वैतरूपदर्शन ) कहलाता है ॥ १७४ ॥

परस्परपरावृत्ताः सर्वे भावाः कथंचन ।
नैरात्म्यं जगतो यद्वन्नैर्जगत्यं तथात्मनः ॥१७५॥

प्रकारांतरसे संसारके समस्त पदार्थ परस्पर परावृत्तरूप हैं अर्थात् संसारका प्रत्येक पदार्थ अपनेसे भिन्न अन्य समस्त पदार्थोंका अभाव रूप है इसलिये संसार नैरात्म्य है तथा संसार और आत्मा भी भिन्न २ हैं इसलिये आत्मा नैर्जगत्य है—संसारसे भिन्न है।

अन्यात्माभावो नैरात्म्यं स्वात्मसत्तात्मकश्च सः।
स्वात्मदर्शनमेवातः सम्यग्नैरात्म्यदर्शनं॥ १७६॥

अन्य आत्माओंका-पदार्थोंका अभाव ही नैरात्म्य कहलाता है और वह स्वात्मसत्तात्मक ही (अपने आत्माकी सत्तारूप) पड़ता है। इसलिये सम्यग्नैरात्म्यदर्शन स्वात्मदर्शन ही पड़ता है भावार्थ-अपने आत्माका दर्शन ही उत्तम नैरात्म्यदर्शन है॥ १७६॥

आत्मानमन्यसंपृक्तं पश्यन् द्वैतं प्रपश्यति।
पश्यन् विभक्तमन्येभ्यः पश्यत्यात्मानमद्वयं॥

अन्य कर्मोंके संबंधसे संबंधित आत्माको देखता हुआ यह जीव द्वैतपना देखता है परंतु जब यही जीव इस आत्माको कर्मोंके संबंधसे रहित वा भिन्न देखता है तो यही आत्मा उसे अद्वैत दिखाई देता है॥ १७७॥

पश्यन्नात्मानमैकाग्र्यात्क्षपयत्यर्जितान्मलान्।
निरस्ताहंममीभावः संवृणोत्यप्यनागतान्॥ १७८॥

अहंकार और ममकार आदि भावोंको नष्टकर जिससमय यह आत्मा एकाग्रता से आत्माको देखता है उससमय वह अनेक इकट्ठे किये हुए पापोंको नाश करता है तथा आगामी आनेवाले कर्मोंका संवर भी वह करता है॥ १७८

यथा यथा समाध्याता लप्स्यते स्वात्मनि स्थितिं।
समाधिप्रत्ययाश्चास्य स्फुटिष्यन्ति तथा तथा॥

सम्यक् ध्यान करनेवाला यह आत्मा ज्यों ज्यों अपने आत्मामें स्थिर होता जाता है त्यों त्यों उसकी समाधि वा निश्चल ध्यानका कारण भी स्पष्ट प्रगट होता जाता है॥ १७९॥

एतद् द्वयोरपि ध्येयं ध्यानयोर्धर्म्यशुक्लयोः।
विशुद्धिस्वामिभेदात्तु तयोर्भेदोऽवधार्यतां॥ १८०॥

धर्म्य और शुक्ल इन दोनों ध्यानोंमें यह एक स्वात्मदर्शन ही ध्येय पडता है जो धर्म्य ध्यान और शुक्लध्यानमें भेद है वह विशुद्धि और स्वामीके भेदसे निश्चय करना चाहिये। भावार्थ–विशुद्धि और स्वामीके भेदसे उनमें भेद हैं परंतु ध्येय दोनोंका एक ही है॥ १८०॥

इदं हि दुःशकं ध्यातुं सूक्ष्मज्ञानावलंबनात्।
बोध्यमानमपि प्राज्ञैर्न च द्रागवलक्ष्यते॥ १८१॥

परंतु इस स्वात्मदर्शनके लिये सूक्ष्मज्ञानका आलंबन लेना पडता है इसलिये इसका ध्यान करना अत्यंत कठिन साध्य है क्योंकि विद्वान् लोग इसको बहुत समझावें तो भी वह स्वात्मदर्शन शीघ्र दिखाई नहीं पडता॥ १८१॥

तस्माल्लक्ष्यं च शक्यं च दृष्टादृष्टफलं च यत्।

स्थूलं वितर्कमालंब्य तदभ्यस्यंतु धीधनाः ॥१८२॥

इसलिये जो लक्ष्य ( ध्येय जिसका ध्यान करना चाहिये ) शक्य हो जिसका फल दृष्ट अदृष्ट दोनों रूपमें हो ऐसे किसी स्थूल वितर्कणाका आलंबन कर बुद्धिमान लोगोंको ध्यानका अभ्यास करना चाहिये ॥ १८२ ॥

आकारं मरुतापूर्य कुंभित्वा रेफवह्निना ।
दग्ध्वा स्ववपुषा कर्म स्वतो भस्म विरेच्य च ॥

सबसे पहिले पूरक वायुके द्वारा आत्माके आकारकी कल्पना करना चाहिये फिर रेफ रूपी अग्निसे स्थिर रहना चाहिये तथा अपने शरीरके द्वारा कर्मोंको जलाना चाहिये और फिर अपने आप उसकी भस्मका विरेचन करना चाहिये ॥ १८३ ॥

हमंत्रो नभसि ध्येयः क्षरन्नमृतमात्मनि ।
तेनाऽन्यत्तद्विनिर्माय पीयूषमयमुज्ज्वलं ॥ १८४ ॥

फिर आकाशमें ' ह ' मंत्रका ध्यान करना चाहिये तथा कल्पना करना चाहिये कि उस ध्यान किए हुए मंत्रसे आत्मामें अमृत गिर रहा है उस झरते हुए अमृतसे अमृतमय और उज्वल ऐसे दूसरे शरीरका निर्माण करना चाहिये ॥ १८४ ॥

तत्रादौ पिंडसिद्ध्यर्थं निर्मलीकरणाय च ।

मारुतीं तैजसीमार्थीं विदध्याद्धारणां क्रमात् ॥

उस दूसरे अमृतमय शरीरका निर्माण करते समय सबसे पहिले पिंड सिद्धिके लिये अर्थात् शरीरका निर्माण होनेके लिये तथा उसे निर्मल करनेके लिये अनुक्रमसे मारुती तैजसी और पार्थिवी धारणाका प्रारंभ करना चाहिये॥

ततः पंचनमस्कारैः पंचपिंडाक्षरान्वितैः ।
पंचस्थानेषु विन्यस्तैर्विधाय सकलां क्रियाम् ॥

तदनंतर पांचों स्थानोंमें धारण किये गये पांचो पिंडाक्षररूप पंच नमस्कार मंत्रसे समस्त क्रियाएं पूर्ण करना चाहिये ॥ १८६ ॥

पश्चादात्मानमर्हंतं ध्यायेन्निर्दिष्टलक्षणं ।
सिद्धं वा ध्वस्तकर्माणममूर्त्तं ज्ञानभास्वरं ॥ १८७ ॥

इसके बाद जो अरहंत परमेष्ठीका लक्षण बताया गया है उसके समान अपने आत्माको अरहंत मानकर उसका ध्यान करना चाहिये। अथवा जिनके समस्त कर्म नष्ट होगये हैं जो अमूर्त हैं और पूर्णप्रत्यक्षज्ञानसे देदीप्यमान हैं ऐसे अपने आत्माको सिद्ध मान कर उसका ध्यान करना चाहिये ॥ १८७ ॥

नन्वनर्हंतमात्मानमर्हंतं ध्यायतां सतां ।
अतस्मिंस्तद्ग्रहो भ्रान्तिर्भवतां भवतीति चेत् ॥

कदाचित् यहां पर कोई यह शंका करे कि अपना आत्मा अरहंत नहीं है यदि आप सज्जन लोग उसे ही अरहंत मानकर ध्यान करेंगे तो आपका वह ध्यान जिसमें जो पदार्थ नहीं है उसमें उसीके ग्रहण करनेरूप भ्रम कहलावेगा। भावार्थ—जो आत्मा अरहंत नहीं है उसीमें अरहंतकी कल्पनाकर ध्यान करना भ्रम कहलावेगा क्योंकि वास्तवमें वह अरहंत नहीं है ॥ १८८ ॥

तन्न चोद्यं यतोऽस्माभिर्भावार्हन्नयमार्पितः।
स चार्हद्ध्याननिष्ठात्मा ततस्तत्रैव तद्ग्रहः ॥१८९॥
परिणमते येनात्मा भावेन स तेन तन्मयो भवति।
अर्हद्ध्यानाविष्टो भावार्हन् स्यात्स्वयं तस्मात् ॥

परंतु वास्तव में यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि हम लोगोंने उसके आत्माको कल्पना किया हुआ भाव अरहंत माना है इसका भी कारण यह है कि उसका आत्मा अरहंतके ध्यान करनेमें तल्लीन है इसलिये अरहंतमें ही उसके आत्माका ग्रहण किया जाता है। इसका भी खुलासा यह है कि यह आत्मा जिसभावसे परिणत होता है उसी भावसे वह तन्मय ( उसभावमय ) कहलाता है इसलिये जो आत्मा अरहंतके ध्यान करनेमें तल्लीन हो रहा है उससमय वह अपने आप भाव अरहंत हो जाता है ॥ १८९-१९० ॥

येन भावेन यद्रूपं ध्यायत्यात्मानमात्मवित्।

तेन तन्मयतां याति सोपाधिः स्फटिको यथा ॥

जिसप्रकार स्फटिकके पीछे जिस रंगकी उपाधि लगा दी जाती है ( जिस रंगका पुष्प अथवा कोई भी चीज उसके पीछे रखदी जाती है ) वह स्फटिक उसी रंगका दिखलाई पडता है उसीप्रकार आत्माके स्वरूपको जाननेवाला योगी अपना आत्मा चाहे जिस अवस्थामें हो उसका जिस भावसे ध्यान करता है उसभावसे वह तन्मय (उसभावमय ) हो जाता है। भावार्थ-जब वह योगी अरहंतके भावसे अपने आत्माका ध्यान करेगा तो उसका वह आत्मा अरहंत रूप ही दिखलाई पडेगा ॥ १९१ ॥

अथवा भाविनो भूताः स्वपर्यायास्तदात्मकाः ।
आसते द्रव्यरूपेण सर्वद्रव्येषु सर्वदा ॥ १९२ ॥

अथवा यह नियम है कि द्रव्य निक्षेपसे प्रत्येक पदार्थके अपने अपने अतीतकालमें वीते हुए भूत पर्याय और आगामी कालमें होने वाले भावी पर्याय सदा तदात्मक ही प्रतिभासित होते हैं यह ऐसा प्रतिभास समस्त द्रव्योंमें होता है। भावार्थ इसी नियमके अनुसार इस आत्माका आगे होने वाला अरहंतका पर्याय द्रव्यनिक्षेपसे वर्तमानकालीन आत्मामें अरहंत रूपसे ही प्रतिभासित होगा ॥ १९२ ॥

ततोऽयमर्हत्पर्यायो भावी द्रव्यात्मना सदा ।
भव्येष्वास्ते सतश्चास्य ध्याने को नाम विभ्रमः ॥

भव्य जीवोंमें आगामी कालमें होनेवाला यह अरहंतका पर्याय द्रव्यनिक्षेपसे सदा ही बना रहता है इसलिये इस सज्जन आत्माको ध्यान करनेमें विभ्रम किसप्रकार हो सकता है ? भावार्थ—कभी नहीं होसकता ॥ १९३ ॥

किं च भ्रांतं यदीदं स्याच्चदा नातः फलोदयः ।
नहि मिथ्याजलाज्जातु विच्छित्तिर्जायते तृषः ॥
प्रादुर्भवंति चामुष्मात्फलानि ध्यानवर्तिनां ।
धारणावशतः शांतक्रूररूपाण्यनेकधा ॥ १९५ ॥

अथवा यदि यह ही मान लिया जाय कि उस ध्यान करनेवालेको ऐसा भ्रम हो जाता है अर्थात् अरहंतके ध्यान करनेमें तल्लीन हुए अपने आत्माको अरहंत मानना भ्रांति है मिथ्या है तो उस अवस्थामें उस ध्यानसे उसे यथेष्ट फलकी प्राप्ति भी नहीं होनी चाहिये क्योंकि झूठ मूठके जलसे कभी प्यास नहीं बुझा करती है परंतु जैसी जैसी धारणा होती है उसीके अनुसार ध्यान करनेवाले योगियोंके इस ध्यानसे शांत और क्रूर आदि अनेक तरहके फल प्रगट होते हैं अतः अर्हंत मानना मिथ्या नहीं है ॥ १९४–१९५ ॥

गुरूपदेशमासाद्य ध्यायमानः समाहितैः ।
अनंतशक्तिरात्मायं मुक्तिं भुक्तिं च यच्छति ॥

गुरुके उपदेशको ग्रहण कर शांत चित्तसे ध्यान करने-

वाला यह अनंत शक्तिवाला आत्मा मुक्ति और भुक्ति दो-नोंको प्राप्त होता है ॥ १९६ ॥

ध्यातोऽर्हत्सिद्धरूपेण चरमाङ्गस्य मुक्तये ।
तद्ध्यानोपात्तपुण्यस्य स एवान्यस्य मुक्तये ॥१९७॥

अरहंत और सिद्धके स्वरूपको ध्यान करनेवाला यदि चरमशरीरी है तो उसका वह ध्यान मोक्षका कारण होता है। यदि वह चरमशरीरी नहीं है तो उस ध्यानसे वह पुण्यकी प्राप्ति करता है और उस पुण्यसे वह भुक्ति वा भोगोंको प्राप्त करता है ॥ १९७ ॥

ज्ञानं श्रीरायुरारोग्यं तुष्टिपुष्टिर्वपुर्धृतिः ।
यत्प्रशस्तमिहान्यच्च तत्तद्ध्यातुः प्रजायते ॥१९८॥

ज्ञान, लक्ष्मी, आयु, आरोग्य, तुष्टि, पुष्टि, वपु, धृति तथा संसारमें जो कुछ प्रशंसनीय गिना जाता है वह सब ध्यान करनेवालेको प्राप्त होता है ॥ १९८ ॥

तद्ध्यानाविष्टमालोक्य प्रकंपन्ते महाग्रहाः ।
नश्यंति भूतशाकिन्यः क्रूराः शाम्यंति च क्षणात् ॥

जो योगी अरहंत और सिद्धोंके ध्यान करनेमें तल्लीन है उसको देखकर महाग्रह भी कंपित हो जाते हैं, भूत शाकिनी आदि सब नष्ट हो जाती हैं और बडे बडे क्रूर भी क्षणभरमें शांत हो जाते हैं ॥ १९९ ॥

यो यत्कर्मप्रभुर्देवस्तद्ध्यानाविष्टमात्मनः ।
ध्याता तदात्मको भूत्वा साधयत्यात्मवांछितं ॥
पार्श्वनाथोभवन्मंत्री सफलीकृतविग्रहः ।
महामुद्रां महामंत्रं महामंडलमाश्रितः ॥ २०१ ॥

जिस कर्मके करनेमें जो समर्थ देवता है उसका ध्यान करनेसे यह ध्यान करनेवाला पुरुष उसी कार्यको सिद्ध कर लेता है जैसे कि–महामुद्रा ( ध्यानके आसन ) महामंत्र (अ सि आ उ सा) और महामंडलका आश्रयकर मंत्री मरुभूति अपने शरीरको सफलकर पार्श्वनाथ स्वामी होगया ॥

तैजसीप्रभृतीर्बिभ्रद् धारणाश्च यथोचितं ।
निग्रहादीनुदग्राणां ग्रहाणां कुरुते द्रुतं ॥ २०२ ॥

यथायोग्य तैजसी आदि धारणाको धारण करनेवाला योगी उदग्र ( क्रूर ) ग्रहोंका भी बहुत शीघ्र निग्रह आदि करलेता है ॥ २०२ ॥

स्वयमाखंडलो भूत्वा महामंडलमध्यगः ।
किरीटकुंडली वज्री पीतभूषाम्बरादिकः ॥ २०३ ॥

महामंडलके मध्यमें विराजमान वह योगी स्वयं इंद्रकी कल्पना करता है तथा किरीट कुंडलको धारण करनेवाला वज्रशस्त्र लिये हुए वह (?) की कल्पना करता है ॥२०३॥

कुंभकीस्तंभमुद्राद्यास्तंभनं मंत्रमुच्चरन्।
स्तंभकार्याणि सर्वाणि करोत्येकाग्रमानसः॥ २०४॥

एकाग्र चित्तको धारण करनेवाला जो योगी कुंभक वायुको धारण कर स्तंभमुद्राके द्वारा स्तंभन करनेवाले मंत्रोंका उच्चारण करता है वह संसारके समस्त स्तंभनरूप कार्योंको कर डालता है॥ २०४॥

स स्वयं गरुडीभूय क्ष्वेडं क्षपयति क्षणात्।
कंदर्पश्च स्वयं भूत्वा जगन्नयति वश्यतां॥ २०५॥

वह योगी स्वयं गरुड होकर क्षणमात्रमें ही विषका नाश कर डालता है और स्वयं कामदेव होकर समस्त संसारको वश कर लेता है॥ २०५॥

स्वयं वैश्वानरो भूयं ज्वलज्ज्वालाशताकुलः।
शीतज्वरं हरत्याशु व्याप्य ज्वालाभिरातुरं॥ २०६॥

इसीप्रकार वह योगी जिसमें सैकडों ज्वालाएं जलरही हैं ऐसी अग्निका रूप धारण कर अपनी ज्वालाओंके द्वारा रोगीका स्पर्श करता है और बहुत शीघ्र उसके शीतज्वरको हरण करलेता है॥ २०६॥

स्वयं सुधामयो भूत्वा वर्षन्नमृतमातुरे।
अथैतमात्मसात्कृत्य दाहज्वरमपास्यति॥ २०७॥

इसीतरह वह योगी स्वयं अमृतमय होकर रोगीके श-रीरपर अमृतकी वर्षा करता है और उस रोगीको अमृतमय करके उसका सब दाहज्वर दूर कर देता है ॥ २०७ ॥

क्षीरोदधिमयो भूत्वा प्लावयन्नखिलं जगत् ।
शांतिकं पौष्टिकं योगी विदधाति शरीरिणाम् ॥

अथवा क्षीरसागरमय होकर वह समस्त जगतको बहा देता है अथवा डुबो देता है और वही योगी जीवोंके समस्त शांतिक और पौष्टिक कर्मोंको कर डालता है ॥ २०८ ॥

किमत्र बहुनोक्तेन यद्यत् कर्म चिकीर्षति ।
तद्देवतामयो भूत्वा तत्तन्निर्वर्तयत्ययम् ॥ २०९ ॥

अथवा बहुत अधिक कहनेसे क्या लाभ है वह योगी जिस जिस कर्मको करना चाहता है उसी कर्मका देवता रूप होकर वह उस कामको कर डालता है ॥ २०९ ॥

शांते कर्म्मणि शांतात्मा क्रूरे क्रूरोभवन्नयं ।
शांतक्रूराणि कर्माणि साधयत्येव साधकः ॥ २१० ॥

शांत कर्मोंमें वह शांत हो जाता है और क्रूर कर्मोंमें वह क्रूर हो जाता है इसप्रकार सिद्ध करनेवाला वह योगी शांत और क्रूर दोनोंप्रकारके कर्मोंको सिद्ध करलेता है ॥ २१० ॥

आकर्षणं वशीकारः स्तम्भनं मोहनं द्रुतिः ।

निर्विषीकरणं शांतिविद्वेषोच्चाटनिग्रहाः ॥ २११ ॥
एवमादीनि कार्याणि दृश्यन्ते ध्यानवर्तिनां।
ततः समरसीभावसफलत्वान्न विभ्रमः ॥ २१२ ॥

आकर्षण, वशीकार, स्तंभन, मोहन, द्रुति, निर्विषीकरण, शांति, विद्वेष, उच्चाटन, निग्रह आदि बहुत तरहके कार्य ध्यानियोंके देखे जाते हैं अतः समरसीभाव सफल हो जानेसे अर्थात् समरसीभावके पूर्ण प्रगट हो जानेसे उस योगीको किसी प्रकारका विभ्रम नहीं होता ॥२११–२१२॥

यत्पुनः पूरणं कुंभो रेचनं दहनं प्लवः।
सकलीकरणं मुद्रामंत्रमंडलधारणाः ॥ २१३ ॥
कर्म्माधिष्ठातृदेवानां संस्थानं लिंगमासनं।
प्रमाणं वाहनं वीर्यं जातिर्नामद्युतिर्दिशा ॥ २१४ ॥
भुजवक्त्रनेत्रसंख्यां भावः क्रूरस्तथेतरः।
वर्णस्पर्शस्वरोऽवस्था वस्त्रं भूषणमायुधं ॥ २१५ ॥
एवमादि यदन्यच्च शांतक्रूराय कर्मणे।
मंत्रवादादिषु प्रोक्तं तद्ध्यानस्य परिच्छदः ॥ २१६ ॥

जो पूरण, कुंभ, रेचन, दहन, प्लावन, सकलीकरण, मुद्रा, मंत्र, मंडल, धारणा तथा प्रत्येक कर्मके अधिष्ठाता जो देवता हैं उनके संस्थान, चिन्ह आसन, प्रमाण, वाहन, वी-

ये, जाति, नाम, कांति, दिशा, भुजाओंकी संख्या, मुखोंकी संख्या, नेत्रोंकी संख्या, क्रूर तथा शांत भाव, वर्ण, स्पर्श स्वर, अवस्था, वस्त्र, आभूषण और आयुध आदि तथा इनके सिवाय जो कुछ शांत और क्रूर कर्मोंके लिये आवश्यक है वह सब मंत्रवाद आदि शास्त्रोंमें कहा है वह सब ध्यानकी सामग्री कहलाती है ॥ २१३-२१६ ॥

यदात्रिकं फलं किंचित्फलमामुत्रिकं च यत्।
एतस्य द्वितयस्यापि ध्यानमेवाग्रकारणं ॥ २१७ ॥

इस जीवको इस लोकमें तथा परलोकमें जो कुछ फल मिलता है उन दोनों प्रकारके फलोंका मुख्यकारण एक ध्यान ही समझना चाहिये ॥ २१७ ॥

ध्यानस्य च पुनर्मुख्यो हेतुरेतच्चतुष्टयम्।
गुरूपदेशः श्रद्धानं सदाभ्यासः स्थिरं मनः ॥२१८॥

तथा ध्यानके ये चार मुख्य कारण हैं गुरुका उपदेश ग्रहण करना, श्रद्धान रखना, ध्यानका सदा अभ्यास रखना और मनको स्थिर रखना ॥ २१८ ॥

अत्रैव माग्रहं कार्षुर्यद्ध्यानफलमैहिकं।
इदं हि ध्यानमाहात्म्यख्यापनाय प्रदर्शितं ॥ २१९ ॥

जो ध्यानका फल इस लोक संबंधी बतलाया गया है वह केवल ध्यानके माहात्म्य को प्रगट करनेके लिये ही दिख-

बताया गया है परन्तु उस लौकिक फलको प्राप्त करनेकेलिये ध्यान करना उचित नहीं ॥ २१९ ॥

यद्ध्यानं रौद्रमार्त्तं वा यदैहिकफलार्थिनां ।
तस्मादेतत्परित्यज्य धर्म्यं शुक्लमुपास्यतां ॥ २२० ॥

क्योंकि इसलोक संबंधी फलोंकी इच्छा करनेवालोंके जो ध्यान होता है वह आर्त और रौद्र ही होता है इसलिये दोनों ध्यानोंका परित्यागकर धर्म्य ध्यान और शुक्ल ध्यान की ही उपासना करना चाहिये ॥ २२० ॥

तत्त्वज्ञानमुदासीनमपूर्वकरणादिषु ।
शुभाशुभमलापायाद्विशुद्धं शुक्लमभ्यधुः ॥२२१॥

अपूर्वकरण आदि गुणस्थानोंमें तत्त्वज्ञान स्वरूप अर्थात् शुद्ध आत्मस्वरूप, तथा उदासीन स्वरूप और शुभ अशुभ मलोंके दूर हो जानेसे विशुद्ध स्वरूप ऐसे शुक्ल ध्यान को धारण करना चाहिये ॥ २२१ ॥

शुचिगुणयोगाच्छुक्लं कषायरजसः क्षयादुपशमाद्वा ।
माणिक्यशिखावदिदं सुनिर्मलं निःप्रकंपं च ॥ २२२ ॥

कषाय रूपी रजके क्षय होनेसे अथवा उपशम होनेसे आत्माका शुद्ध स्वरूप गुण प्रगट होता है और उसकेप्रगट होनेसे ध्यान शुक्ल ध्यान कहलाता है। वह शुक्ल ध्यान माणिक्यकी शिखाके समान सुनिर्मल और निष्पकंप होता है ॥ २२२ ॥

रत्नत्रयमुपादाय त्यक्त्वा बंधनिबंधनं।
ध्यानमभ्यस्यतां नित्यं यदि योगिन्मुमुक्षसे॥ २२३॥

हे योगी! यदि तू मुक्ति चाहता है तो रत्नत्रयको धारण कर और बंधके कारण जो मिथ्यात्व अविरत प्रमाद कषाय योग आदि हैं उनको दूरकर सदा ध्यानका अभ्यास कर॥ २२३॥

ध्यानाभ्यासप्रकर्षेण तुघन्मोहस्य योगिनः।
चरमांगस्य मुक्तिः स्यात्तदा अन्यस्य च क्रमात्॥

जो योगी ध्यानका सर्वोत्तम अभ्यास करता है उसका मोहनीय कर्म नष्ट हो जाता है और यदि वह योगी चरमशरीरी हुआ तो उसे मोक्ष प्राप्त होता है तथा यदि वह चरमशरीरी नहीं हुआ तो उसे अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त होता है॥

तथा ह्यचरमांगस्य ध्यानमभ्यस्यतः सदा।
निर्जरा संवरश्च स्यात्सकलाशुभकर्मणां॥ २२५॥

जो योगी चरमशरीरी नहीं है तथा ध्यानका सदा अभ्यास करता है उसके समस्त अशुभ कर्मोंकी निर्जरा तथा संवर होता रहता है॥ २२५॥

आस्रवंति च पुण्यानि प्रचुराणि प्रति क्षणं।
यैर्महर्द्धिर्भवत्येष त्रिदशः कल्पवासिषु॥ २२६॥

तथा उसके प्रत्येक क्षणमें बहुतसे पुण्य कर्मोंका आ-स्रव होता रहता है जिनके कि उदयसे वह कल्पवासी देवोंमें अनेक बडी बडी ऋद्धियोंको धारण करनेवाला देव होता है॥ २२६॥

तत्र सर्वेन्द्रियामोदि मनसः प्रीणनं परं।
सुखामृतं पिबन्नास्ते सुचिरं सुरसेवितः॥ २२७॥

वहांपर समस्त इंद्रियोंको प्रसन्न करनेवाले, और मन अत्यंत तुष्ट करनेवाले सुखरूपी अमृतको पान करता हुआ रहता है और अनेक देवता लोग बहुत दिनतक उसकी सेवा करते रहते हैं॥ २२७॥

ततोऽवतीर्य मर्त्येपि चक्रवर्त्यादिसंपदः।
चिरं भुक्त्वा स्वयं मुक्त्वा दीक्षां दैगंबरीं श्रितः॥

वहांसे अवतीर्ण होकर मनुष्य लोकमें आता है और बहुत दिनतक चक्रवर्ती आदिकी संपदाओंका उपभोग करता है तथा उन्हें स्वयं छोडकर दिगंबरी दीक्षा धारण करता है॥ २२८॥

वज्रकायः स हि ध्यात्वा शुक्लध्यानं चतुर्विधं।
विधूयाष्टापि कर्म्माणि श्रयते मोक्षमक्षयं॥ २२९॥

वज्रवृषभनाराच संहननको धारण करनेवाला वह चारों प्रकारके शुक्ल ध्यानको धारण करता है और आठों कर्मोंको

नष्टकर अविनाशी मोक्षपदको प्राप्त होता है ॥ २२९ ॥

आत्यंतिकः स्वहेतोर्यो विश्लेषो जीवकर्मणोः।
स मोक्षः फलमेतस्य ज्ञानाद्याः क्षायिका गुणाः॥

जीव और कर्मोंका जो अपने ही आत्मस्वरूप कारणों से अत्यंत विश्लेष हो जाना है अर्थात् आत्मासे कर्मोंका बिलकुल अलग हो जाना है उसे मोक्ष कहते हैं और क्षायिक ज्ञान आदि गुणोंका प्रगट हो जाना उस मोक्षका फल होता है ॥ २३० ॥

कर्मबंधनविध्वंसादूर्ध्वव्रज्यास्वभावतः।
क्षणेनैकेन मुक्तात्मा जगच्चूडाग्रमृच्छति ॥ २३१ ॥

एक तो कर्मोंका बंधन हो जानेसे और दूसरे आत्माका ऊर्ध्व गमन स्वभाव होनेसे वह मुक्त आत्मा एक ही क्षणमें ( समयमें ) जगतके अग्रभागपर जा विराजमान होता है ॥

पुंसः संहारविस्तारौ संसारे कर्मनिर्मितौ।
मुक्तौ तु तस्य तौ न स्तः क्षयात्तद्धेतुकर्मणां ॥ २३२ ॥

संसारमें जीवोंके प्रदेशोंका जो संकोच विस्तार होता है वह कर्मोंके उदयसे होता है इसलिये मुक्त होनेपर वह संकोच विस्तार नहीं हो सकता क्योंकि संकोच विस्तारके कारण जो कर्म हैं वे नष्ट हो जाते हैं ॥ २३२ ॥

ततः सोऽनंतरत्यक्तस्वशरीरप्रमाणतः।

किंचिदूनस्तदाकारस्तत्रास्ते स्वगुणात्मकः ॥ २३३॥

इसलिये वह मुक्त जीव अपने छोडे हुए शरीरके प्रमाणसे कुछ कम आकारमें रहता है तथा मुक्त होते समय जो शरीरका आकार है उसी आकारका रहता है और अपने आत्माके गुणोंसे भरपूर रहता है ॥ २३३ ॥

स्वरूपावस्थितिः पुंसस्तदा प्रक्षीणकर्मणः।
नाभावो नाप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकं ॥ २३४॥

कर्मक्षय होनेके बाद इस पुरुषकी अवस्था स्वाभाविक रहती है इसलिये मुक्त अवस्थामें न तो जीवका अभाव कह सकते हैं न अचेतन कह सकते हैं और न चेतनकी व्यर्थता कह सकते हैं ॥ २३४ ॥

स्वरूपं सर्वजीवानां स्वपरस्यं प्रकाशनं।
भानुमंडलवत्तेषां परस्मादप्रकाशनं ॥ २३५ ॥

सूर्यमंडलके समान समस्त जीवोंका स्वरूप स्वपरको ( अपने आत्माको तथा आत्मेतर समस्त पदार्थोंको ) प्रकाश करना है जिसप्रकार सूर्य अन्य किसीसे प्रकाशित नहीं होता उसीप्रकार जीव भी अन्य किसीसे प्रकाशित नहीं हो सकता ॥ २३५ ॥

तिष्ठत्येव स्वरूपेण क्षीणे कर्मणि पौरुषः।
यथा मणिः स्वहेतुभ्यः क्षीणे सांसर्गिके मले ॥२३६॥

जिसप्रकार सांसर्गिक मलके दूर होनेपर मणि अपने हेतुओंसे ठहरता है उसीप्रकार कर्मोंके नाश होनेपर यह आत्मा भी अपने स्वभावसे ही ठहरता है ॥ २३६ ॥

न मुह्यति न संशेते न स्वार्थानध्यवस्यति ।
न रज्यते न च द्वेष्टि किंतु स्वस्थः प्रतिक्षणं ॥

उससमय यह मुक्तात्मा न तो मोहित होता है न सोता है न अपने स्वार्थोंकी ओर झुकता है और न राग करता है न द्वेष करता है किंतु वह प्रत्येक क्षणमें स्वस्थ ही रहता है ॥ २३७ ॥

त्रिकालविषयं ज्ञेयमात्मानं च यथास्थितं ।
जानन् पश्यंश्च निःशेषमुदास्ते स तदा प्रभुः ॥

उससमय वह प्रभु आत्मा भूत भविष्यत वर्तमान तीनों काल संबंधी समस्त ज्ञेय पदार्थोंको तथा अपने स्वरूपमें ठहरे हुए अपने आत्माको देखता और जानता हुआ उदासीन रूपसे रहता है ॥ २३८ ॥

अनंतज्ञानदृग्वीर्यवैतृष्ण्यमयमव्ययं ।
सुखं चानुभवत्येष तत्रातींद्रियमच्युतः ॥ २३९ ॥

कभी न नाश होनेवाला यह मुक्तात्मा मुक्तावस्थामें अतींद्रिय, अनंतज्ञानमय, अनंतदर्शनमय, अनंतवीर्यमय, तृष्णा रहित और नाश रहित ऐसे अनंत सुखका अनुभव करता है ॥

ननु चाक्षैस्तदर्थानामनुभोक्तुः सुखं भवेत्।
अतीन्द्रियेषु मुक्तेषु मोक्षं तत्कीदृशं सुखं ॥ २४० ॥

कदाचित् कोई यहांपर यह शंका करे कि इस संसारमें जो इंद्रियोंके द्वारा पदार्थोंका अनुभव करता है उसीको सुख मिल सकता है जो जीव मुक्त होगया है वह अतींद्रिय है इसलिये मोक्षमें सुखकी प्राप्ति किसप्रकार हो सकती है ? ॥ २४० ॥

इति चेन्मन्यसे मोहात्तन्न श्रेयो मतं यतः।
नाद्यापि वत्स त्वं वेत्सि स्वरूपं सुखदुःखयोः ॥२४१॥

उसके लिये आचार्य कहते हैं कि—तू मोहनीय कर्मके उदयसे ऐसा मानता है इसलिये तेरा यह मत वा यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि हे वत्स ! अभी तक तू सुखदुःखका स्वरूप ही नहीं जानता है ॥ २४१ ॥

आत्मायत्तं निराबाधमतींद्रियमनश्वरं।
घातिकर्मक्षयोद्भूतं यत्तन्मोक्षसुखं विदुः ॥ २४२ ॥

जो केवल आत्माके आधीन है, जिसमें कोई किसीतरहकी बाधा नहीं है जो अतींद्रिय है कभी नाश होनेवाला नहीं है और जो घातिया कर्मोंके नाश होनेसे प्रगट हुआ है ऐसा मोक्ष सुख ही वास्तवमें सुख कहलाता है ॥ २४२ ॥

यत्तु सांसारिकं सौख्यं रागात्मकमशाश्वतं।

स्वपरद्रव्यसंभूतं तृष्णासंतापकारणं ॥ २४३ ॥

मोहद्रोहमदक्रोधमायालोभनिबंधनं।

दुःखकारणबंधस्य हेतुत्वाद्दुखमेव तत् ॥ २४४ ॥

तथा जो सांसारिक सुख रागद्वेष रूप है, क्षण क्षणमें नष्ट होनेवाला है, आत्मा और अन्य पुद्गलादि द्रव्योंसे प्रगट होता है, जो तृष्णा और संतापका कारण है और मोह द्रोह, मद क्रोध माया लोभ आदि विकारोंका कारण है वह सब दुख देने वाले कर्म बंधका कारण है इसलिये वह सुख नहीं किंतु दुःख ही कहलाता है ॥२४३-२४४॥

तन्मोहस्यैव माहात्म्यं विषयेभ्योऽपि यत् सुखं।

यत्पटोलमपि स्वादु श्लेष्मणस्तद्विजृंभितं ॥ २४५ ॥

इस जीवको जो विषयोंसे भी सुख प्रतीत होता है वह केवल मोहनीय कर्मका ही माहात्म्य है, क्योंकि पटोल भी जो स्वादिष्ट जान पडता है वह केवल श्लेष्माके कारण ही जान पडता है (वास्तवमें पटोल स्वादिष्ट नहीं है) इसी प्रकार वास्तवमें विषयोंमें भी सुख नहीं है ॥ २४५ ॥

यदत्र चक्रिणां सौख्यं यच्च स्वर्गे दिवौकसां।

कलयापि न तत्तुल्यं सुखस्य परमात्मनां ॥ २४६ ॥

इस संसारमें जो चक्रवर्तियोंको सुख मिलता है और स्वर्गमें जो देवोंको सुख मिलता है वह परमात्माओंके ( सु-

क आत्माओंके ) सुखकी एक कलाके समान भी नहीं हो सकता ॥ २४६ ॥

अत एवोत्तमो मोक्षः पुरुषार्थेषु पठ्यते।
स च स्याद्वादिनामेव नान्येषामात्मविद्विषां ॥ २४७॥

इसीलिये चारों पुरुषार्थोंमें एक मोक्ष ही सबसे उत्तम पुरुषार्थ माना जाता है और वह भी स्याद्वादको माननेवाले जैनियोंके ही यहां है। आत्मासे द्वेष रखनेवाले ( आत्माका वास्तविक स्वरूप न माननेवाले ) अन्य मतियोंके यहां नहीं ॥ २४७ ॥

यद्वा बंधश्च मोक्षश्च तद्धेतू च चतुष्टयं।
नास्त्येवैकांतरक्तानां तद्व्यापकमनिच्छतां ॥ २४८॥

अथवा बंध और मोक्ष तथा इन दोनोंके कारण, ये चारों ही एकांतवादियोंके नहीं हैं क्योंकि वे इन चारोंको व्यापक नहीं मानते हैं ॥ २४८ ॥

अनेकांतात्मकत्वेन व्याप्तावत्र क्रमाक्रमौ।
ताभ्यामर्थक्रिया व्याप्ता तयास्तित्वं चतुष्टये ॥ २४९॥

क्रम और अक्रम अर्थात् अस्तित्व नास्तित्व और वक्तव्य अवक्तव्य ये दोनों अनेकांत रूपसे ही व्याप्त हैं तथा क्रम अक्रम इन दोनोंसे ही इस संसारमें अर्थ क्रिया व्याप्त है और अर्थ

क्रियासे ही बंध मोक्ष तथा इन दोनोंके हेतु इन चारोंका अस्तित्व रहता है ॥ २४९ ॥

मूलव्याप्तुर्निवृत्तौ तु क्रमाक्रमनिवृत्तितः।
क्रियाकारकयोर्भ्रंशान्न स्यादेतच्चतुष्टयं ॥ २५० ॥

इसलिये इन सबका मूल व्यापक अनेकांत है अनेकांत न माननेसे क्रम अक्रम भी नहीं बन सक्ते तथा क्रम अक्रमके न होनेसे क्रियाकारकका नाश होता है और क्रियाकारकका नाश होनेसे बंध मोक्ष तथा इन दोनोंके हेतु इन चारोंका अस्तित्व नहीं होसकता ॥ २५० ॥

ततो व्याप्त्या समस्तस्य प्रसिद्धश्च प्रमाणतः।
चतुष्टयसदिच्छद्भिरनेकांतोऽवगम्यतां ॥ २५१ ॥

इसलिये जो मोक्ष बंध और इन दोनोंके हेतुओंको चाहते हैं उन्हें जो व्याप्त है और जिसका प्रमाणसे मानना प्रसिद्ध है ऐसा अनेकांत अवश्य मानना चाहिये ॥ २५१ ॥

सारश्चतुष्टयेप्यस्मिन्मोक्षः सद्ध्यानपूर्वकः।
इति मत्वा मया किंचिद् ध्यानमेव प्रपंचितं॥ २५२॥

बंध मोक्ष और दोनोंके कारणोंमें एक मोक्ष ही प्रधान तथा सार है और उस मोक्षकी प्राप्ति श्रेष्ठ ध्यान पूर्वक ही होती है यही समझकर मैंने (श्रीमन्नागसेन मुनिने) कुछ ध्यानका ही विस्तार लिखा है ॥ २५२ ॥

यद्यप्यत्यंतगंभीरमभूमिर्मादृशामिदम् ।
प्रावर्तिषि तथाप्यत्र ध्यानभक्तिप्रचोदितः ॥ २५३ ॥

यद्यपि ध्यानका स्वरूप अत्यंत गंभीर है और हमारे ऐसे पुरुषोंके कहनेके सर्वथा अयोग्य है तथापि ध्यानकी भक्तिसे प्रेरित होकर ही मुझे इसमें प्रवृत्त होना पड़ा है ॥

यदत्र स्खलितं किंचिच्छाद्मस्थ्यादर्थशब्दयोः ।
तन्मे भक्तिप्रधानस्य क्षमतां श्रुतदेवता ॥ २५४ ॥

मैं केवल भक्तिको ही प्रधान मानता हूं इसलिये अल्पज्ञानी होनेके कारण जो कुछ शब्द और अर्थकी भूल होगई हो तो श्रुतदेवता मुझे क्षमा करें ॥ २५४ ॥

वस्तुयाथात्म्यविज्ञानश्रद्धानध्यानसंपदः ।
भवंतु भव्यसत्त्वानां स्वस्वरूपोपलब्धये ॥ २५५ ॥

पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान, यथार्थ श्रद्धान और ध्यान रूपी संपदाएं भव्य जीवोंको अपने शुद्ध आत्माके स्वरूपकी प्राप्ति होनेके लिये हों ॥ २५५ ॥



## प्रशस्ति।

श्रीवीरचंद्रशुभदेवमहेंद्रदेवाः
शास्त्राय यस्य गुरुवो विजयामरश्च।
दीक्षागुरुः पुनरजायत पुण्यमूर्तिः
श्रीनागसेनमुनिरुद्धचारित्रकीर्तिः॥ २५६॥

जिसके श्रीवीरचंद्रदेव, शुभचंद्रदेव और महेंद्रदेव शास्त्र पढानेवाले विद्यागुरु हुए थे तथा पुण्यमूर्ति विजयदेव दीक्षागुरु हुए थे तथा जिनके चारित्रकी कीर्ति चारों ओर फैल रही थी ऐसे एक नागसेन नामके मुनि हुए थे॥

तेन प्रवृद्धधिषणेन गुरूपदेश-
मासाद्य सिद्धिसुखसंपदुपायभूतं।
तत्त्वानुशासनमिदं जगतो हिताय
श्रीनागसेनविदुषा व्यरचि स्फुटार्थं॥

उन्हीं अत्यंत विद्वान और बहुत ही बढी हुई बुद्धिवाले नागसेन मुनिने गुरुके उपदेशको स्वीकारकर संसारका हित करनेके लिये जिसका अर्थ अत्यंत सरल है और जो मोक्षसुखरूपी संपदाका कारण है ऐसा यह तत्त्वानुशासन नामका ग्रंथ बनाया॥ २५७॥

जिनेंद्राः सद्ध्यानज्वलनहुतघातिप्रकृतयः
प्रसिद्धाः सिद्धाश्च प्रहततमसः सिद्धिनिलयाः।
सदाचार्या वर्याः सकलसदुपाध्यायमुनयः
पुनंतु स्वांतं नस्त्रिजगदधिकाः पंच गुरवः॥ २५८॥

श्रेष्ठ ध्यानरूपी अग्निमें घातिया कर्मोंकी सब प्रकृतियोंका होम करनेवाले श्रीजिनेंद्रदेव, समस्त कर्मरूपी अंधकार को नाश करनेवाले तथा सिद्धशिलापर विराजमान ऐसे प्रसिद्ध सिद्धभगवान, श्रेष्ठ आचार्य, सब उपाध्याय और सब साधु ये तीनों लोकोंमें सर्वोत्तम पांचों परमेष्ठी मेरे अंतःकरणको पवित्र करो॥ २५८॥

देहज्योतिषि यस्य मज्जति जगत् दुग्धांबुराशाविव
ज्ञानज्योतिषि च स्फुटत्यतितरामोंभूर्भुवःस्वस्त्रयी।
शब्दज्योतिषि यस्य दर्पण इव स्वार्थाश्चकासंत्यमी
स श्रीमानमरार्चितो जिनपतिर्ज्योतिस्त्रयायास्तु नः॥

इति श्रीमन्नागसेनमुनिविरचितः तत्त्वानुशासनसिद्धान्तः समाप्तः।

क्षीरसागरके समान जिनके शरीरकी निर्मल कांतिमें यह समस्त जगत स्नान करता है, जिनके ज्ञानके प्रकाशमें ओंभूर्भुवः स्वः ये तीनों अत्यंत प्रकाशमान होते हैं और दर्पणके समान जिनके शब्दरूप प्रकाशमें ( दिव्यध्वनिमें ) ये सब जीव तथा जीवेतर सब पदार्थ प्रकाशित होते हैं तथा

जो अंतरंग बहिरंग लक्ष्मीको धारण करते हैं और समस्त इंद्रादि देव जिनकी पूजा करते हैं ऐसे भागवान श्रीजिनेंद्रदेव हम लोगोंको शरीरकी ज्योति ( परमौदारिक शरीर ) ज्ञानकी ज्योति ( केवल ज्ञान ) और शब्दकी ज्योति ( दिव्य ध्वनि ) इन तीनोंके देनेवाले हों ॥ २५९ ॥

इति श्रीतत्त्वानुशासन
समाप्त।



श्री वीतरागाय नमः।

सनातन जैन ग्रंथमाला।

२०

अथ श्रीचंद्रकविकृता

# वैराग्यमणिमाला।

( भाषानुवाद सहित )

चिंतय परमात्मानं देवं योगिसमूहैः कृतपदसेवं।
संसारार्णववरजलयानं केवलबोधसुधारसपानं॥ १॥

हे भव्य जीव! तू परमात्माका चिंतवन कर। इस संसार में परमात्मा ही सर्वोत्कृष्ट देव हैं, संसार के समस्त योगियों के समूह उन्हीं के चरण कमलों की सेवा करते हैं और वे ही इस संसाररूपी महासागरसे पार करने वाले उत्तम जहाज हैं वे परमात्मा केवल ज्ञानके द्वारा अमृतके समान पान किये जाते हैं अर्थात् उन परमात्मा का साक्षात् अनुभव केवलज्ञानके द्वारा होता है॥ १॥

जीव जहीहि धनादिकतृष्णां
मुंच ममत्वं लेश्यां कृष्णां।
धर चारित्रं पालय शीलं
सिद्धिवधूक्रीडावरलीलं॥ २॥

हे जीव! तू धनादिक की तृष्णा छोड, ममत्वका त्याग कर और कृष्ण लेश्याको दूर हटा। इन सबका त्याग कर सम्यक् चारित्रको धारण कर और शीलका पालन कर क्योंकि इस संसारमें चारित्र और शील ही मोक्षरूपी स्त्री का मनोरंजन करनेके लिये उत्तम लीला है। भावार्थ—मोक्ष रूपी स्त्री चारित्र और शीलको पालन करनेवालेको स्वयं वरण कर लेती है॥ २॥

अध्रुवमिदमाकलय शरीरं
जननीजनकधनादि सदारं।
वांछां कुरुषे जीव नितांतं
किं न हि पश्यसि मूढ कृतांतं॥ ३॥

हे जीव! तू इस शरीरको अनित्य अथवा अवश्य नाश होनेवाला समझ तथा इसके साथ साथ माता पिता स्त्री और धन आदिको भी नष्ट होनेवाला समझ। हे जीव! तू इनके बने रहनेकी अत्यन्त इच्छा करता है परन्तु हे मूढ! क्या तू यमराजको नहीं देखता॥ ३॥

बाल्ये वयसि क्रीडासक्त-
स्तारुण्ये सति रमणीरक्तः।
वृद्धत्वेऽपि धनाशाकष्ट-
स्त्वं भवसीह नितांतं दुष्टः ॥ ४ ॥

हे जीव! तू बालक अवस्थामें तो खेल कूदमें लगा रहा, तरुण अवस्थामें स्त्रीमें आसक्त रहा और वृद्ध अवस्थामें ( बुढापेमें ) धन पानेकी आशा लगाये रहनेका भारी कष्ट भोगता रहा। इसप्रकार तू जन्मसे मरणतक अत्यन्त दुष्टता ही, धारण किये रहा ॥ ४ ॥

का ते आशा यौवनविषये
अध्रुवजलबुद्बुदसमकाये।
मृत्वा यास्यसि निरयनिवासं
तदपि न जहसि धनाशापाशं ॥ ५ ॥

अरे! तू इस यौवन अवस्थाके बने रहनेमें क्यों आशा लगा रहा है? देख यह शरीर जलके बुदबुदाके समान अनित्य है। मरकर तुझे नरकका निवास भोगना पडेगा परन्तु खेद है कि तब भी तू इस धनकी आशारूपी जालका त्याग नहीं करता ॥ ५ ॥

भ्रातर्मे वचनं कुरु सारं

चेत्त्वं वांछसि संसृतिपारं।
मोहं त्यक्त्वा कामं क्रोधं
त्यज, भज त्वं संयमवरबोधं ॥ ६ ॥

हे भाई! यदि तू इस संसारसे पार होना चाहता है तो मेरे वचनों हीको सार मान। सबसे पहिले तू मोहका त्याग कर और फिर काम क्रोधको छोडकर संयम और सम्यग्ज्ञानको धारण कर ॥ ६ ॥

का ते कांता कस्तव तनयः
संसारोऽपि च दुःखमयो यः।
पूर्वभवे त्वं कीदृग्भूतः
पापास्रवकर्मभिरभिभूतः ॥ ७ ॥

अरे कुछ विचार तो कर कि इस संसारमें कौन तो तेरी स्त्री है और कौन तेरा पुत्र है। यह संसार दुःख मय है। पहिले भवमें जब तू अनेक पापोंका आस्रव करनेवाले कर्मोंसे खूब जकडा हुआ था तब कैसा था ॥ ७ ॥

शरणमशरणं भावय सतत-
मर्थमनर्थं चिंतय नियतं।
नश्वरकायपराक्रमवित्ते
वांछां कुरुषे तस्य हि चित्ते ॥ ८ ॥

हे जीव ! संसारमें जितने शरण हैं उन सबको तू सदा अशरण समझ तथा जितने अर्थ वा पदार्थ हैं उन सबको सदा अनर्थ करनेवाले चिंतवन कर। यह पराक्रम दिखाने वाला तेरा शरीर नश्वर वा अवश्य नाश होने वाला है क्या तू अपने हृदयमें उसीकी इच्छा करता है ? ॥ ८ ॥

एको नरके याति वराकः
स्वर्गे गच्छति शुभसविवेकः।
राजाप्येकः स्याच्च धनेशः
एकः स्यादविवेको दासः ॥ ९ ॥

यह क्षुद्रप्राणी अकेला ही तो नरकमें जाता है और विवेक सहित शुभ परिणामोंके साथ साथ अकेला ही स्वर्गमें जाता है। यह राजा भी अकेला ही होता है धनी भी अकेला ही होता है और विवेकरहित दास भी अकेला ही होता है ॥ ९ ॥

एको रोगी शोकी एको
दुःखविहीनो दुःखी एकः।
व्यवहारी च दरिद्री एक
एकाकी भ्रमतीह वराकः ॥ १० ॥

रोगी भी अकेला ही होता है शोक भी अकेले को ही होता है सुखी भी अकेला ही रहता है और दुःख भी अकेला

ही भोगता है । इसीतरह व्यवहार चलानेवाला भी अकेला ही होता है और दरिद्री भी अकेला ही होता है इसप्रकार यह नीच प्राणी इससंसारमें अकेला ही परिभ्रमण करता है ॥ १० ॥

अथिरं परिजनपुत्रकलत्रं
सर्वं मिलितं दुःखामत्रं ।
चेतसि चिंतय नियतं भ्रातः !
का ते जननी कस्तव तातः ॥ ११ ॥

पुत्र स्त्री और कुटुंबी जन सब अनित्य हैं और सब मिलकर दुःख देने वाले हैं इस संसार में कौन किसकी माता है और कौन किसका पिता है ? हे भाई ! तू अपने चित्तमें सदा यही चिंतवन करता रह ॥ ११ ॥

भ्रातर्भूतगृहीतोऽसि त्वं
दारनिमित्तं हिंससि सत्त्वं ।
तेनाऽघेन च यास्यसि नरकं
तत्र सहिष्यसि घोरातंकं ॥ १२ ॥

हे भाई ! क्या तू भूतोंने पकड रक्खा है जो केवल स्त्री केलिये जीवोंकी हिंसा करता है देख तुझे इसी पापके कारण नरकमें जाना पडेगा और वहां पर घोर दुःख सहन करने पडेंगे ॥ १२ ॥

विषयपिशाचासंगं मुंच
क्रोधकषायौ मूलाल्लुंच।
कंदर्पप्रभुमानं कुंच
त्वं लुंपेन्द्रियचौरान् पंच॥ १३॥

हे प्राणी तू विषय रूपी पिशाचों की आसक्ति को छोड, क्रोध और कषायोंको जडमूलसे नाशकर, काम और मान को खंड खंड कर डाल तथा इंद्रिय रूपी पांचो चौरोंको वश कर॥ १३॥

कुत्सितकुथितशरीरकुटीरं
स्तननाभी मांसादिविकारं।
रेतःशोणितपूयापूर्णं
जघनच्छिद्रं त्यज रे! तूर्णं॥ १४॥

यह शरीररूपी झोंपडी अत्यंत कुत्सित और कुथित है स्त्रियोंके स्तन और नाभि मांसादिकके विकार हैं और जघनछिद्र अर्थात् योनि, वीर्य रुधिर और पीव घृणित पदार्थोंसे परिपूर्ण है इसलिये हे मूर्ख! बहुत ही शीघ्र तू इनका त्याग कर॥१४॥

संसाराब्धौ कालमनंतं
त्वं वसितोऽसि वराक! नितांतं।

अद्याऽपि त्वं विषयाऽऽसक्तः
भव तेषु त्वं मूढ ! विरक्तः ॥ १५ ॥

हे नीच तूने इस संसाररूपी समुद्रमें अनन्त कालतक खूब निवास किया है और आजतक विषयोंमें आसक्त रहा है। हे मूर्ख अब तो तू उनसे विरक्त हो ॥ १५ ॥

दुर्गतिदुःखसमूहैर्भग्न–
स्तेषां पृष्ठे पुनरपि लग्नः।
विकलो मत्तो भूताविष्टः
पापाचरणे जंतो ! दुष्टः ॥ १६ ॥

हे जीव तू दुर्गतियोंके अनेक दुःखसे जर्जरित किया गया है तथापि तू फिर भी उन्हींके पीछे लगा रहता है। हे क्षुद्र ! पापरूप आचरण करनेमें तू सदा तल्लीन रहता है इसीलिये तू दुष्ट इंद्रिय ज्ञानसे रहित, मदोन्मत्त और भूतोंके द्वारा पकड़ा हुआ अर्थात् पागल गिना जाता है ॥ १६ ॥

सप्तधातुमयपुद्गलपिंडः कृमिकुलकलितामयफणिखंडः
[1]......तदपि हि मूर्ध्नि पतति यमदंडः ॥१७॥

---

१ 'देहोऽयं तव निंदितकुंडः' ऐसा पाठ हो सक्ता है। तब 'यह शरीर सात धातुओंका बना हुआ पुद्गलका पिंड है, कीड़ाओंका घर है और निंदनीय है परंतु तो भी यमराजका दंड इस पर पड़ता ही है।' यह अर्थ होगा।

मा कुरु यौवनधनगृहगर्वं

तव कालस्तु हरिष्यति सर्वं।

इंद्रजालमिदमफलं हित्वा

मोक्षपदं च गवेषय मत्वा ॥ १८ ॥

हे प्राणी तू यौवन धन और घर आदिका अभिमान मतकर क्योंकि यह काल तेरे इस यौवन धन आदि सबको हरण कर लेगा यह धन यौवन आदि सब इंद्रजालके समान निष्फल है यही समझकर हे जीव तू इनका त्यागकर और मोक्ष पथकी गवेषणा वा तलाशी कर ॥ १८ ॥

नीलोत्पलदलगतजलचपलं

इंद्रचापविद्युत्समतरलं।

किं न वेत्सि संसारमसारं

भ्रांत्या जानासि त्वं सारं ॥ १९ ॥

हे प्राणी यह संसार नील कमलके पत्तेपर पडेहुए जलके समान चंचल है तथा इन्द्रधनुष अथवा बिजलीके समान क्षण-भंगुर ( शीघ्रही नाश होनेवाला ) है। हे जीव क्या तू इस ऐसे असार संसारको नहीं जानता ? अथवा इसमें होनेवाले परिभ्रमणके द्वारा ही तू इसे सारभूत समझता है ॥ १९ ॥

शोकवियोगभयैः संभरितं

संसारारण्यं त्यज दुरितं।

कस्त्वां हस्ते दृढमिव धृत्वा
बोधिष्यति कारुण्यं कृत्वा ॥ २० ॥

हे प्राणी देख यह संसाररूपी वन अनेक तरहके शोक वियोग और भयोंसे भराहुआ है तथा अत्यन्त पापमय है। इसलिये तू इसे छोड। बहुत कहांतक कहा जाय तुझे हाथसे बडी मजबूतीसे पकडकर तथा बडी भारी करुणा कर कौन समझावेगा ? भावार्थ—समझाना आचार्योंका कर्तव्य है जब तू अत्यन्त समझानेपर भी संसारको नहीं छोडता तब फिर तुझे मजबूतीसे पकडकर भी तो कौन समझावेगा और इस तरह समझानेसे भी तो क्या लाभ होगा ॥ २० ॥

मुंच परिग्रहवृन्दमशेषं
चारित्रं पालय सविशेषं।
कामक्रोधनिपीलनयंत्रं
ध्यानं कुरु रे जीव ! पवित्रं ॥ २१ ॥

हे जीव ! अब तू इन समस्त परिग्रहोंके समूहोंका त्याग कर विशेष चारित्रका पालन कर और कामक्रोधको पेलकर नष्ट कर देनेवाले यंत्रके समान पवित्र ध्यानको धारण कर ॥

मुंचं विनोदं कामोत्पन्नं
पश्य शिवं त्वं शुभसंपन्नं।

यास्यसि मोक्षं प्राप्स्यसि सौख्यं

कृत्वा शुक्लं ध्यानं सख्यं ॥ २२ ॥

हे जीव! तू कामदेव से उत्पन्न हुए विनोदों ( क्रीडाओंका ) का त्यागकर और शुभ संपत्तियोंसे भरेहुए मोक्षपथको देख। इस संसारमें तेरा वास्तविक मित्र शुक्लध्यान है यदि तू उसे धारण करेगा तो तुझे मोक्षपद प्राप्त होगा और वहांपर तुझे अनंत सुख मिलेगा ॥ २२ ॥

आशावसनवसानो भूत्वा

कामोपाधिकषायान् हित्वा।

गिरिकंदरगहनेषु स्थित्वा

कुरु सद्ध्यानं ब्रह्म विदित्वा ॥ २३ ॥

और तू आशा आदि अंतरंग परिग्रहोंका और वस्त्रादि बहिरंग परिग्रहोंका त्यागकर तथा कर्मोंकी उपाधिसे उत्पन्न होनेवाले कषायोंको छोडकर पर्वतोंकी अंधेरी गुफाओंमें बैठकर और परमब्रह्म परमात्माका स्वरूप जानकर उत्तम ध्यान धारणकर ॥ २३ ॥

यमनियमासनयोगाभ्यासान्

प्राणायामप्रत्याहारान्।

धारणध्येयसमाधीन् धारय

संसाराब्धेर्जीवं तारय ॥ २४ ॥

हे जीव तू यम, नियम,आसन और अनेक तरहके योगाभ्यासों को धारण कर, प्राणायाम प्रत्याहारोंको धारण-कर तथा धारण ध्येय और समाधियोंको धारणकर , इन सबको धारण कर संसाररूपी महासागरसे तू अपने जीवको पार लगा अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर ॥ २४ ॥

अर्हत्सिद्धमुनीश्वरसाक्षं
चारित्रं यदुपात्तं दक्षं ।
तत्त्वं पालय यावज्जीवं
संसारार्णवतारणनावं ॥ २५ ॥

अरहंत सिद्ध और मुनिराजोंकी साक्षी पूर्वक जो तूनें सर्वोत्तम चारित्र धारण किया है उसको तू जीवन पर्यंत पालन कर क्योंकि संसाररूपी महासागरसे पार करनेके लिये यही एक नाव है। भावार्थ–सम्यक्चारित्रको पालन किये बिना तू कभी मोक्ष प्राप्त नही करसकता ॥ २५ ॥

सावधिवस्तुपरित्यजनं यत् रक्षय शुद्धमनाः शुद्धं तत्
औदास्यं शाम्यं संपालय आशादासीसंगं वारय २६

तुने मर्यादापूर्वक जो पदार्थोंका त्याग किया है उस शुद्ध त्यागकी शुद्ध मनसे रक्षाकर तथा रागद्वेषरहित उदासी-

नता और शांतपरिणामरूप समताका पालनकर और आशा-रूपी दासीका साथ छोड ॥ २६ ॥

पर्यंकादिविधेरभ्यासं यत्नतया कुरु योगाऽभ्यासं ।
दुर्धरमोहमहासितसर्पं कीलय बोधय मर्दय दर्पं २७

हे जीव! तू पर्यंक आसन आदि विधिपूर्वक बडे प्रयत्नसे योगाभ्यासका अभ्यासकर। दुर्धर मोहरूपी बडेभारी काले सर्पको वशकर और अभिमानको चूर चूर करडाल इसप्रकार तू अपने आत्माका ज्ञान सम्पादनकर अथवा मोक्षमार्गमें चलनेकेलिये आत्माको सावधान कर ॥ २७ ॥

पूरककुंभकरेचकपवनैः संसारेंधनदाहनदहनैः ।
कृत्वा निर्मलकायं पूर्वं त्वं यदि वांछसि मोक्षमपूर्वं २८

हे जीव यदि तू अपूर्व मोक्ष पद प्राप्त करनेकी इच्छा करता है तो संसाररूपी ईंधनको जलानेके लिये अग्निके समान पूरक कुंभक और रेचक पवनोंके द्वारा सबसे पहिले अपने शरीरको निर्मल कर ॥ २८ ॥

घ्राणविनिर्गतपवनसमूहं रुंधित्वा स्फोटय कलिनिवहं
दशमद्वारि विलीनं कुरु त्वं लभसे केवलबोधमनंतं २९

घ्राणसे निकले हुए पवन समूहको रोक कर पापोंके समूहको नाश कर और फिर इस पवन समूहको दशमद्वार

में लेजाकर विलीन कर इस प्रकार करनेसे तुझे ज्ञान प्राप्त होगा ॥ २९ ॥

हृदयादानीय च नाभिं प्रति वायुं तदनु च तं पूरयति
योगाभ्यासचतुरयोगींद्राः पूरकलक्षणमाहुरतंद्राः ॥

प्रमादरहित और योगाभ्यास करनेमें चतुर ऐसे मुनिराज वायुको हृदय स्थानसे लेकर नाभितक पूरण करनेको पूरक कहते हैं ॥ ३० ॥

नाभिसरोजे पवनं रुध्वा स्थिरतरमत्र नितांतं बध्वा
पूर्णकुंभवन्निर्भररूपं कथयति योगी कुंभकरूपं ३१

उस पूरक पवनको नाभि कमलमें स्थिररूपसे रोककर जिसप्रकार पूर्ण कुंभ भरते हैं उसीप्रकार अच्छीतरह भरनेको योगी लोग कुंभक पवन कहते हैं ॥ ३१ ॥

निस्सारयति शनैस्तं कोष्ठात् पवनं यो योगीश्वरवचनात्
रेचकवातं योगी कथयति यो जीवान् मोक्षं प्रापयति ॥

योगीश्वरोंके वचनानुसार उस वायुको उस कोठेसे धीरे धीरे बाहर निकालनेको योगी लोग रेचक पवन कहते हैं। यह रेचक पवन जीवोंको मोक्ष प्राप्त कराने वाली है। भावार्थ— इसप्रकार प्राणायामपूर्वक ध्यानाभ्यास करना परंपरासे मोक्षका कारण है ॥ ३२ ॥

नासामध्ये नगरचतुष्टयमस्ति नितांतं मूढ! विचारय

तत्रोत्पत्तेर्वातचतुर्णां संचरणां च कलय संपूर्णां २३

हे मूढ! इस नासिकाके मध्यभागमें चार नगर हैं ऐसा तू खूब अच्छी तरह चिंतवन कर। उन्हीं चारो नगरोंसे पृथ्वीमंडल अपमण्डल तेजोमण्डल और वायुमण्डल इन चारो पवनों की उत्पत्ति होती है। इन चारों पवनोंके संचरणोंको (गमनागमनको) अच्छी तरह समझ॥ २३॥

चक्षुर्द्वियये श्रवसि ललाटे नाभौ तालुनि हृत्कजनिकटे
तत्रैकस्मिन् देशे चेतः सद्ध्यानी धरतीत्यतिशांतं २४

उत्तम ध्यान करनेवाला ध्याता अपने हृदय को अत्यंत शांतता पूर्वक नेत्रोंमें धारण करता है, कानोमें धारण करताहै ललाट पर धारण करता है नाभिमें धारण करता है, तालुमें धारण करता है अथवा हृदयरूपी कमलके निकट धारण करता है। इन ऊपर लिखे स्थानोंमेंसे किसी एक स्थानमें धारण करता है ॥ २४॥

योजनलक्षप्रमितं कमलं संचित्यं जांबूनदविमलं।
कोशदेशमंदिरगिरिसहितं क्षीरसमुद्रसरोवरसहितं

सबसे पहिले एक लाख योजन लंबा चौडा गोल जंबूद्वीपके समान एक निर्मल कमलका चिंतवन करना चाहिये कमलकी धुडी स्थान पर मंदराचल (मेरु) पर्वतका चिंतवन करना चाहिये और वह कमल क्षीर सागररूपी सरोवरमें है ऐसा विचार करना चाहिये।

तस्योपरि सिंहासनमेकं
तत्र स्थित्वा कुरु सद्ध्यानं।
..............................
प्राप्स्यसि जीव ! शिवाऽमृतपानं ॥३६॥

उस कमलके ऊपर शरद् ऋतुके चंद्रमाके समान निर्मल ऊंचा और मनोज्ञ एक सिंहासनका चिंतवन करना चाहिये और उस सिंहासन पर स्वयं अपने आत्माको विराजमान कर उत्तम ध्यान करना चाहिये। इस प्रकार ध्यान करनेसे हे जीव तू शीघ्र ही मोक्षरूपी अमृतका ध्यान करने लगेगा ॥

तदनंतरमाध्येयं रम्यं नाभीमध्ये कमलं सौम्यं ।
षोडशपत्रप्रमितं सारं स्वरमालान्वितपत्राऽऽधारं ३७

उसके बाद अपनी नाभिके मध्यभागमें एक मनोहर और सौम्य कमलका चिंतवन करना चाहिये । उस कमल के सोलह दल हों और एक एक दल पर एक एक स्वरके हिसाबसे सोलह दलों पर सोलह स्वर लिखे हों ॥

रेफकलाबिंदुभिरानद्धं
तन्मध्ये संस्थाप्यं शुद्धं ।

---

१ 'चेतय सिद्धस्वरूपममानं' ऐसा पाठ हो सकता है ।

शून्यं वर्णं सत्वंतव्यं तेजोमयमाशं संदिव्यं ॥ ३८॥

उस कमलके मध्यभागमें अत्यंत शुद्ध सब दिशाओं को प्रकाशित करनेवाला, अत्यंत दिव्य, और (?) ऐसा रेफ और विंदु सहित शून्य वर्ण अर्थात् हकार ( हँ ) स्थापन करना चाहिये ॥ ३८ ॥

तस्मान्निर्यान्ती धूमाली पश्चादग्निकणानामाऽऽली
संचित्यानुज्वालाश्रेणी भव्यानां भवजलधेर्द्रोणी ३९

उस हँ वीजाक्षरके रेफसे धूम की पंक्ति निकल रही है उसके बाद अग्निके स्फुलिंगोंका समूह निकल रहा है और उसके बाद भव्य जीवोंको संसाररूपी समुद्रसे पार करनेके लिये नावके समान अग्निकी ज्वालाकी पंक्तियां निकल रही हैं ऐसा चितवन करना चाहिये ॥

ज्वालानां निकरेण ज्वाल्यं कर्मकजाष्टकपत्रं शल्यं ।
अवतानं हृदयस्थं चिंत्यं मोक्षं यास्यसि मानय सत्यं॥

उस कमलके नीचे एक हृदयमें विराजमान ऐसे आठ दलवाले कमलका चितवन करना चाहिये जिसके आठो दलोंपर आठों कर्म रक्खे हों और फिर उस ज्वालाके समूह से वह शल्यके समान आठों कर्मों सहित कमल जल रहा है ऐसा चितवन करना चाहिये। ऐसा चितवन करनेसे तुझे अवश्य ही मोक्ष प्राप्त होगी यह बात तू बिलकुल सत्य मान ॥

कोणत्रितयसमन्वितकुंडं वन्हिबीजवर्णैरावसंडम् ।
दग्धय मध्ये क्षिप्त्वा पिंडं पश्यसि सिद्धिवधुवरतुंडं ॥

इसके बाद शरीरके बाहर त्रिकोण अग्निकुंडका चिंतवन करना चाहिये । वह त्रिकोण कुंड अग्निबीजाक्षर " रं " से परिपूर्ण हो । उस अग्निकुंडमें शरीरको स्थापनकर जलाना चाहिये अर्थात् ऐसा चिंतवन करना चाहिये इसप्रकार चिंतवन वा ध्यान करनेसे मुक्तिरूपी स्त्रीका सुंदर मुख तुझे देखनेको मिलेगा। भावार्थ–तू शीघ्र ही मुक्त होगा। यह आग्नेयी धारणाका स्वरूप कहा ॥ ४१ ॥

आकाशं संपूर्णं व्याप्य
पृथ्वीवलयं सर्वं प्राप्य ।
वातं वातं हृदि संभारय
परमानंदं चेतसि धारय ॥ ४२ ॥

तदनंतर सम्पूर्ण आकाशमें व्याप्त होनेवाले तथा सम्पूर्ण पृथिवी मंडलमें प्रवेश करतेहुए वायुका चिंतवन करना चाहिये और फिर उस वायुको अपने हृदयमें धारण करना चाहिये इसप्रकार अपने हृदयमें परमानंदको धारण करना चाहिये ॥

तेन वातवलयेनोड्डाप्यं
भस्मवृंदमनुदिनमास्थाप्यं ।

द्वादशांतमध्ये सद्ध्यानं

कुरु सिद्धानां परमं ध्यानं ॥ ४३॥

तदनंतर चिंतवन करना चाहिये कि उस वायुसमूहने उस जलायेहुए शरीरकी भस्मको उड़ादिया है फिर धीरे धीरे उस वायुको द्वादशांत स्थानमें ( ) स्थापन कर शांत करना चाहिये इसप्रकार सिद्धपरमेष्ठीका परमध्यानरूप श्रेष्ठश्रद्धान करना चाहिये। यह मारुती धारणा है।

आकाशे संगर्जितमुदिरं

सेन्द्रचापमासारसुसारं।

नीरपूरसंप्लावितसूरं

संरोध्येति घनाघननिकरं ॥ ४४ ॥

इसके बाद आकाशमें इंद्रधनुष,बिजली,बादलोंका गर्जना बादलोंका खूब बरसना,पानीके पूरसे सूर्यका डूबजाना या बहजाना आदिका तथा बादलोंके समूहका चिंतवन करना चाहिये ॥ ४४ ॥

अर्धचंद्रपुटसमसंराधं

वारणपुरसंचिंत्यमबाधं।

अमृतपूरवर्षणशशिसारं

तुष्टयोगिवप्पीहकनिकरं ॥ ४५ ॥

तदनंतर अर्द्धचंद्राकार निर्दोष अमृतमय जलकी वर्षासे सारभूत चंद्रमाके समान वारणपुर (वरुणमंडल) का चितवन करना चाहिये ॥ ४५ ॥

कांत्या स्नापितदशदिग्वलयं
दर्शनबोधवीर्यशिवनिलयं।
चिन्मयपिंडं वर्जितवलयं
स्मर निजजीवं निर्मलकायं ॥ ४६ ॥

इसके बाद अपनी कांतिसे जिसने दशों दिशाओंके समूहको धोडाला है, जो दर्शन ज्ञान वीर्य और मोक्षरूप कल्याणका स्थान है जो केवल चैतन्य स्वरूप है, गोलाई आदि आकारोंसे रहित है और जिसका शरीर अर्थात् प्रदेशोंका समूह बिल्कुल निर्मल है ऐसे अपने आत्माका चितवन करना चाहिये। यह वारुणी धारणा है ॥ ४६ ॥

भामण्डलनिर्जितरविकोटिं
शुक्लध्यानाऽमृतसंपुष्टिं।
तीर्थंकरपरमोत्तमदेवं
स्वात्मानं स्मर कृतसुरसेवं ॥ ४७ ॥

तदनंतर जिसके प्रभामंडलसे करोडों सूर्यकी प्रभा जीती जारही है, जो शुक्ल ध्यानरूपी अमृतसे बहुतही पुष्ट हो रहा है और समस्त देव जिसकी सेवा कर रहे हैं ऐसे देवाधिदेव तीर्थ-

-कर परमदेव मेरा आत्मा ही है ऐसा चिंतवन करना चाहिये यह तत्वरूपवती धारणा है ॥ ४७ ॥

कुंभवातेन च तं संचित्यं
ऊर्ध्वरेफसंयुक्तं नित्यं ।
सकलविंदुनानाहतरूपं
स्थापय चित्ते छेदितपापं ॥ ४८ ॥

तदन्तर समस्त पापोंको नाश करने वाला, सकल विंदु सहित, ऊर्ध्वरेफसे विराजमान और सदा चिंतवन करने योग्य ऐसे अनाहत मंत्रके स्वरूपको कुंभ वातके द्वारा हृदयमें स्थापन करना चाहिये ॥ ४८ ॥

कमलमेकमारोपय चाग्रे
आरोप्य स्मर तद्दलवर्गे ।
सर्वमंत्रबीजं हृदि नितरां
कामक्रोधकषायैर्विरतं ॥ ४९ ॥

साम्हने एक कमलका चिंतवन करना चाहिये और उसके समस्त दलोंपर स्वरोंका चिंतवन करना चाहिये । काम क्रोध और कषायोंसे रहित होकर समस्त मंत्रोंके बीजको हृदयमें सदा चिंतवन करते रहना चाहिये ॥ ४९ ॥

शरदिंदोर्निर्गच्छंतं संतं
मंत्रराजमाराधय सततं ।

तालुसरोरुहमागच्छंतं
मेघाऽमृतधारावर्षंतं ॥ ५० ॥

शरद ऋतुके चंद्रमासे निकलतेहुए उस मंत्रराजका सदा आराधन करते रहना चाहिये। वह मंत्रराज तालुरूपी कमल के समीप आया है और मेघरूपी अमृतकी धारा बरसा रहा है ऐसा चिंतवन करना चाहिये। इसके बाद ॥ ५० ॥

भ्रूलतयोर्मध्ये चाऽऽरोप्यं
उद्धाप्य घ्राणाग्रे स्थाप्यं।
पुनरुद्धाप्य च हृदये धार्यं
नेत्रोत्पलविषये तत्कार्यं ॥ ५१ ॥

उस मंत्रराजको दोनो भोंह रूपी लताओंके मध्यभागमें विराजमान करना चाहिये फिर वहांसे भी उठाकर नासिकाके अग्रभागमें स्थापन करना चाहिये फिर वहांसे उठाकर हृदयमें धारण करना चाहिये और फिर उस मंत्रराजको नेत्ररूपी कमलोंमें विराजमान करना चाहिये ॥ ५१ ॥

सोमदेवसूरेरुपदेशः
कार्यश्चित्ते शुभसंवेशः।
लंबीजाक्षरमारोप्यांते
विघ्नैर्मुक्तश्चैव नासांते ॥ ५२ ॥

शुभ वेष बनानेवाला अर्थात् मोक्ष पद प्राप्त कर देने-वाला सोमदेव आचार्यका उपदेश अपने हृदयमें धारण करना चाहिये तदनन्तर विद्वान् लोगोंको मोक्ष प्राप्त करनेके लिये नासिकाके अंतिम भागमें ' लं ' बीजाक्षर आरोपण करना चाहिये ॥ ५१ ॥

एवमादिमंत्राणां स्मरणं
कुरु जीव ! त्वं तेषां शरणं ।
यत् सामर्थ्याद्विजहासि मरणं
संसाराब्धेः कुरुषे तरणं ॥ ५२ ॥

हे जीव ! तू इसप्रकारके और भी अनेक मंत्रोंका स्मरण कर तथा उन्हींको शरण मान क्योंकि उन मन्त्रोंकी सामर्थ्य से तेरा जन्म मरण छूट जायगा और तू संसाररूपी महासा-गरसे पार हो जायगा ॥ ५२ ॥

अविचलचित्तं धारय बंधो !
यास्यसि पारं संसृतिसिंधोः ।
त्वं च भविष्यसि केवलबोधो
हंसत्वं प्राप्स्यसि शिवसिंधोः ॥ ५४ ॥

हे भाई ! तू स्थिर चित्त होकर उन मंत्रोंको अपने हृदयमें धारण कर, उन मंत्रोंको हृदयमें धारण करनेसेही तू संसार-रूपी समुद्रसे पार हो जायगा, केवलज्ञानी अर्थात् सर्वज्ञ हो

जायगा और मोक्षरूपी समुद्रमें तू हंसके समान उत्तम पदको पहुंच जायगा ॥ ५४ ॥

शुद्धरूपचिन्मयाचितपिंडं
विज्ज्योतिश्चिच्छक्त्योर्नीडं ।
चिद्रम्यं चित्कौमुदिचंद्रं
स्मर बोधाधिपतिं गुणसांद्रं ॥ ५५ ॥

हे जीव ! जो अत्यन्त शुद्ध, ( चैतन्यरूप ज्योति ) और चैतन्यरूप शक्तिका आधार भूत है जो चैतन्य शक्तिके द्वाराही मनोहर है जो चैतन्यरूप चांदनीके लिये चंद्रमा है पूर्णताका अधिपति वा स्वामी है और जो समस्त गुणोंसे भरपूर है ऐसे परम ब्रह्म परमात्माका तू चिंतवन कर ॥ ५५ ॥

निर्मलचिद्रूपामृतसिंधुं
शुक्लध्यानांबुजकजबंधुम् ।
सिद्धिवधूसरसीवरहंसं
पश्य शिवं शांतं च निरंशं ॥ ५६ ॥

हे जीव ! यह मोक्ष निर्मल चैतन्यरूप अमृतका समुद्र है शुक्लध्यान रूपी कमलकेलिये सूर्य है, मुक्तिस्त्री रूपी सरोवरीके लिये उत्तम हंस है, अत्यन्त शांत है और निरंश वा अखंड स्वरूप है ऐसे मोक्षको तू देख ॥ ५६ ॥

ज्ञानार्णवकल्लोलकलापे

क्रीडति योऽजस्रं शिवरूपे।

नवकेवललब्धिभिरापूर्णः

सेव्यंते मुनिभिर्गतवर्णः ॥ ५७ ॥

जो सबतरहके वर्णोंसे रहित है नौ केवल लब्धियोंसे परिपूर्ण है और ज्ञानरूपी महासागरकी लहरोंके समूहरूप मोक्षके स्वरूपमें जो सदा क्रीडा करता रहता है उसकी मुनि-लोग भी सेवा करते रहते हैं ॥ ५७ ॥

केवलकैरविणीविध्रेशं

मुक्तिकामिनीकर्णावतंसं।

त्रिभुवनलक्ष्मीभालविशेषं

लब्धिसौधरत्नानां कलशं ॥ ५८ ॥

शिवहंसीसंगमसस्नेहं

अष्टगुणोपेतं च विदेहं।

बोधिसुधारसपानपवित्रं

साम्यसमुद्रं त्रिभुवननेत्रं ॥ ५९ ॥

अनाद्यखंडाचलसद्देवं

योगिवृंदवृंदारकवंद्यं।

हरिहरब्रह्मादिभिरभिवंद्यं
केवलकल्याणोत्सवहृद्यं ॥ ६० ॥
श्रुतशैवलिनीसुरगिरिविधुरं
निःश्रेयसलक्ष्मीकरमुकुरं ।
कर्म्ममहीधरभेदनभिदुरं
श्यामश्रीग्रीवालंकारं ॥ ६१ ॥
व्योमाकारं पुरुषमरूपं
निर्वापितसंसृतिसंतापं ।
वर्जितकामदहनसंपातं
त्रिभुवनभव्यजीवहिततातं ॥ ६२ ॥
इत्यादिकगुणगणसंपूर्णं
चिंतय परमात्मानं तूर्णं ।
अष्टप्रवचनमातुः पितरं
पारीकृताजवंजवपारं ॥ ६३ ॥

तदनंतर हे जीव ! तू शीघ्रताके साथ ऐसे परमात्माका चिंतवन कर जो कि केवल ज्ञानरूपी कमोदिनियोंके प्रफुल्लित करनेकेलिये चंद्रमा हैं, मुक्तिरूपी स्त्रीके कानोंके आभूषण हैं, तीनों लोकोंकी सुशोभित करनेवाली लक्ष्मीके मस्तकको तिलक स्वरूप हैं, जो केवल लब्धिरूपी रत्नोंके

बनेहुए राजभवनके लिये कलश हैं, और मोक्षरूपी हंसिनीके साथ समागम करनेके लिये स्नेहरूप हैं। जो सम्यक्त्व आदि आठों गुणोंसे सुशोभित हैं, शरीररहित हैं, रत्नत्रयरूपी अमृत रसके पीनेसे जो अत्यन्त पवित्र हैं, जो समताभावोंके समुद्र हैं और तीनों लोकोंके नेत्र हैं। जिनका सद्वेद्य अर्थात् सुख अनादि है अखंड है और अचल है जो योगियोंके समूह द्वारा वंदनीक हैं हरिहर ब्रह्मा आदि भी जिन्हें नमस्कार करते हैं, जो केवल ज्ञानके कल्याणोत्सव होनेसे ही मनोहर हैं, जो द्वादशांग वाणी रूपी नदीको प्रगट करनेके लिये सुमेरु पर्वत हैं मोक्षरूपी लक्ष्मीको प्रसन्न करनेके लिये हाथकी आरसी हैं, कर्मरूपी पर्वतको चूर्ण करनेके लिये वज्र हैं और मोक्षरूपी लक्ष्मीके गलेहार हैं। जो केवल आकाशके आकारस्वरूप हैं, पुरुषाकार हैं, अरूपी हैं जिनके संसारसंबंधी संताप नष्ट होगये हैं जो कामाग्निके प्रवेशसेभी रहित हैं और जो तीनों लोकके भव्य जीवोंका हित करनेके लिये पिताके समान हैं। इत्यादि अनेक गुणोंके समूहसे जो परिपूर्ण हैं जो अष्ट प्रवचन माताओंको (श्रुतज्ञानको) प्रगट करनेके लिये पिताके समान हैं और जो संसारके किनारेको भी उल्लंघन करचुके हैं अर्थात् संसारसे सर्वथा पार हो चुके हैं ऐसे परमात्माको तू शीघ्र ही चिंतवन कर ॥५८-६३॥

निजदेहस्थं स्मर रे मूढ

त्वं नो चेद् भ्रमिष्यासि मूढः।

मूर्खाणां मध्ये त्वं रूढः

त्वं च भविष्यस्यग्रे षंढः ॥ ६४ ॥

अरे मूर्ख ! तू अपने आत्मामें विराजमान परमात्माका चितवन कर । यदि तू उस अपने शरीरमें विराजमान परमात्माका चितवन न करेगा तो तू इस संसारमें खूबही परिभ्रमण करेगा मूर्खोंमें भी तू प्रसिद्ध गिना जायगा और आगे चलकर तू नपुंसक अर्थात् कर्तव्यहीन हो जायगा ॥ ६४ ॥

एकमनेकं त्वं संभारय

शुद्धमशुद्धं त्वं संतारय ।

लक्ष्यमलक्ष्यं त्वं संपारय

कर्मकलंकं त्वं संदारय ॥ ६५ ॥

हे जीव तू अपने आत्माको एक और अनेक रूप चितवन कर तथा शुद्ध और अशुद्ध रूप चितवनकर उसे संसारसे पार लगा । तू अपने लक्ष्य तथा अलक्ष्यस्वरूप आत्माको प्राप्त कर और कर्मरूप कलंकको विदीर्ण कर ॥ ६५ ॥

बद्धमबद्धं रिक्तमरिक्तं

शून्यमशून्यं व्यक्ताऽव्यक्तं ।

रुष्टमरुष्टं दुष्टादुष्टं

शिष्टमशिष्टं पुष्टाऽपुष्टं ॥ ६६ ॥

अंतर्भेदज्ञानविचारैः व्यवहारव्यवहारासारैः।
वर्ण्यते देहस्थं पुरुषैर्विषयविरक्तैर्ज्ञानविशेषैः ६७

जिनके अंतरंगमें भेदज्ञानका विचार है जो व्यवहार नय और निश्चय नयको अच्छी तरह जानते हैं जो विषयोंसे विरक्त हैं और जो विशेष ज्ञानको धारण करनेवाले हैं ऐसे महापुरुष इस शरीरमें विराजमान आत्माको कर्मोंसे बंधा हुआ, कर्मोंसे रहित, रागद्वेषादि विकारोंसे रहित, तथा सहित, मूर्त तथा अमूर्त, व्यक्त तथा अव्यक्त, रागी तथा विरक्त, पापी तथा पापरहित, सज्जन तथा दुर्जन, और चिदानंदामृतसे पुष्ट तथा उससे रहित वर्णन करते हैं ॥ ६७ ॥

विरम विरम बाह्यादिपदार्थे
रम रम मोक्षपदे च हितार्थे।
कुरु कुरु निजकार्यं च वितंद्रः
भव भव केवलबोधयतीन्द्रः ॥ ६८ ॥

हे जीव ! अब तू पुत्र स्त्री धनादिक बाह्यपदार्थोंसे विरक्त हो विरक्त हो। आत्माका हित करनेवाले मोक्षस्थानमें क्रीडा कर क्रीडा कर, प्रमाद रहित होकर अपना कार्य ( आत्माका कल्याण) जल्दीकर जल्दी कर और केवल ज्ञानसे सुशोभित होकर मुनियोंका स्वामी जल्दी हो जल्दी हो ॥ ६८ ॥

मुंच मुंच विषयाऽमिषभोगं
लुंप लुंप निजतृष्णारोगं।

रुंध रुंध मानसमातंगं
घर घर जीव विमलतरयोगं ॥ ६९ ॥

हे जीव ! तू विषयरूपी मांसका भोग छोड छोड, अपने तृष्णारूपी रोगको हटा दूर हटा , मनरूपी हाथीको रोक तथा वश कर और अपने अत्यंत निर्मल योगको धारण कर जल्द धारण कर ॥ ६९ ॥

चिंतय निजदेहस्थं सिद्धं
आलोचय कायस्थं बुद्धं ।
स्मर पिंडस्थं परमविशुद्धं
कल केवलकेलीशिवलब्धं ॥ ७० ॥

हे जीव ! तू अपने शरीरमें विराजमान सिद्ध भगवानका चिंतवन कर , शरीरमें विराजमान परम ज्ञानस्वरूप शुद्ध आत्माकी आलोचना कर तथा शरीरमें ही विराजमान परम विशुद्ध स्वरूप चिदानंदका स्मरण कर और केवल ज्ञान रूपी क्रीडाके द्वारा प्राप्त हुए मोक्षस्थानको प्राप्त हो ॥ ७० ॥

वैराग्यमणिमालेयं रचिता सप्ततिप्रमा ।
ब्रह्मश्रुताब्धिशिष्येण श्रीचंद्रेण मुमुक्षुणा ॥७१॥

इसप्रकार मोक्षकी इच्छा रखनेवाले ब्रह्म श्रुत सागरके शिष्य श्रीचंद्रने सत्तर श्लोकोंमें यह वैराग्यमणिमाला बनाई ॥

इसप्रकार श्रीचंद्रकी बनाई हुई यह वैराग्यमणिमाला समाप्त हुई।



श्रीमत्पूज्यपादस्वामिविरचित

# इष्टोपदेश।

हिंदी भाषानुवाद सहित।

यस्य स्वयं स्वभावाप्तिरभावे कृत्स्नकर्मणः।
तस्मै संज्ञानरूपाय नमोऽस्तु परमात्मने ॥ १ ॥

अर्थ—समस्तकर्मोंके अभावसे-नष्ट होजानेसे जिसे स्वस्वरूपकी प्राप्ति होगई है और जो सम्यग्ज्ञानस्वरूप है उस परमात्माके लिये भक्तिपूर्वक नमस्कार है

भावार्थ—निमित्त निश्चल जो चैतन्यरूप परिणाम उसका नाम यहां स्वभाव है। इस स्वभावकी प्रकटता ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्म और राग द्वेष आदि भावकर्मोंके सर्वथा नष्ट हो जानेसे होती है तथा इन्हींके नाशसे आत्मा चमचमाते हुए सम्यग्ज्ञान स्वरूप और उत्कृष्ट आत्मा-परमात्मा कहा जाता है इसलिये जिस परमात्माने समस्त कर्मोंके अभावसे स्वस्वरूप प्राप्त करलिया है और इसीकारण अभेदनयकी अपेक्षा वह सम्यग्ज्ञान स्वरूप है वह परम अतिशयको प्राप्त परमात्मा

हमारा कल्याण करे-हमें भी परमात्म-स्वरूप होनेकी बुद्धि प्रदान करे ॥ १ ॥

स्वस्वरूपकी स्वयं प्राप्ति विना दृष्टांतके कैसे ठीक मानी जा सक्ती है ? इस प्रश्नका समाधान करते हैं—

योग्योपादानयोगेन दृषदः स्वर्णता मता।
द्रव्यादिस्वादिसंपत्तावात्मनोऽप्यात्मता मता ॥२॥

अर्थ—जिसप्रकार सुवर्णरूप परिणाममें कारण योग्य उपादान कारणके संबंधसे पत्थर सुवर्ण होजाता है -पत्थर रूपसे उसका व्यवहार न होकर सुवर्ण रूपसे व्यवहार होने लगता है उसीप्रकार सुद्रव्य सुक्षेत्र सुकाल और सुभाव रूप सामग्रीके प्राप्त हो जानेपर आत्माका स्वस्वरूप भी प्रकट हो जाता है।

भावार्थ—जो पत्थर सोनारूप परिणत होजाता है उस पत्थरको सुवर्ण पाषाण कहते हैं तो जिसप्रकार समर्थ कारणोंकी सहायतासे सुवर्ण पाषाण सोना होजाता है-जिसका पहले पत्थर रूपसे व्यवहार होता था वह साक्षात् सोना हो जाता है उसीप्रकार जो आत्मा कर्मोंके जालमें फंसा रहनेके कारण मलिन बना रहता है वही आत्मा योग्य द्रव्य योग्य क्षेत्र योग्य काल और योग्य भावस्वरूप असाधारण कारणके प्राप्त होजानेपर अपना निर्मल निश्चल चैतन्य स्वरूप प्राप्त कर लेता है, वही आत्मा परमात्मा होजाता है ॥ २ ॥

शंका—अहिंसा सत्य आदि व्रतोंके पालन करनेपर स्वस्व

रूपकी प्राप्ति होती है यह युक्तियुक्त सिद्धांत है। यदि उस स्व-स्वरूपकी प्राप्ति सुद्रव्यादि सामग्रीसे ही हो जायगी तो फिर व्रत आदिका आचरण करना व्यर्थ है क्योंकि स्वस्वरूपकी प्राप्तिमें व्रत आदि कारण हैं यदि व्रतोंकी गैरमौजूदगीमें भी स्वस्वरूप प्राप्त हो जायगा तो व्रत कारण नहीं हो सकते भावार्थ— व्रतोंका आचरण करना व्यर्थ कायको क्लेश देना है। उत्तर—

वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्वत नारकं।
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ॥ ३ ॥

अर्थ–जिसप्रकार छायामें बैठकर अपने साथीकी राह देखनेवाले पुरुषको छाया, शांति प्रदान करती है और आतप-धूपमें बैठकर अपने साथीकी राह देखनेवालेको कष्ट मिलता है उसीप्रकार व्रतोंके आचरणसे स्वर्ग आदि सुखोंके साथ मोक्ष प्राप्त होती है और अव्रतोंकी कृपासे पहले नरकदुःख भोगने पडते हैं पीछे मोक्ष मिलती है इसलिये व्रतोंका आचरण करना ठीक ही है और अव्रती रहना युक्त नहीं। भावार्थ– ऊपर जो यह शंका की गई थी कि जब स्वस्वरूपकी प्राप्तिमें सुद्रव्य सुक्षेत्र आदि सामग्री ही कारण है, व्रत आचरण कारण नहीं, तब व्रत आचरण करनेकी क्या आवश्यकता ? उनका आचरण करना व्यर्थ ही है। उसका समाधान यहां ग्रंथकारने किया है कि व्रत आचरण करना व्यर्थ नहीं क्योंकि

अव्रती रहनेसे पहले पापका उपार्जन होता है और उसका फल नरक आदिके भयंकर कष्ट भोगने पडते हैं, पीछे बडी देरीसे मोक्ष प्राप्त होती है अहिंसादि व्रतोंके पालनेसे नरक आदिके कष्ट नहीं भोगने पडते, स्वर्ग सुखोंके साथ मोक्ष प्राप्त हो जाती है इसलिये व्रतोंका पालन करना सार्थक है। वास्तवमें तो अव्रती मनुष्यकी बुद्धि सर्वदा मिथ्या मार्गमें लगी रहती है, उसे हिताहितका विवेक ही नहीं सूझता इसलिये स्वस्वरूपकी प्राप्तिमें सुद्रव्य सुक्षेत्र आदि कारण हैं यह ज्ञान ही उसे जल्दी नहीं होता किंतु जो मनुष्य व्रती हैं—व्रताचरण करते हैं उन्हें हिताहितका विवेक रहता है—वे ही यह शीघ्र जान सकते हैं कि सुद्रव्य सुक्षेत्र आदि योग्य सामग्रीकी प्राप्तिसे स्वस्वरूपकी प्राप्ति होती है इसलिये जब यह बात निर्दोष है कि व्रतोंके आचरणसे ही जल्दी स्वस्वरूपकी प्राप्ति है अव्रतोंसे नहीं तब व्रतोंका पालन कभी निरर्थक नहीं माना जा सकता ॥ ३ ॥

शंका—यदि व्रताचरणसे स्वर्ग आदि मोक्ष सुखकी शीघ्र प्राप्ति होती है तो जीवोंकी आत्मामें भक्ति न होगी क्योंकि आत्मभक्तिसे सुद्रव्यादि सामग्रीकी जब प्राप्ति होगी तब बडी देरीसे मोक्ष सुख मिलेगा इसलिये शीघ्र स्वर्ग आदि संसार सुखकी प्राप्तिमें कारण व्रताचरण करना ठीक है, देरीसे मोक्षसुखकी प्राप्तिमें कारण सुद्रव्य सुक्षेत्र आदि सामग्रीके लिये प्रयत्न करना ठीक नहीं ? उत्तर—

यत्र भावः शिवं दत्ते द्यौः कियद् दूरवर्तिनी ।

यो नयत्याशु गव्यूतिं क्रोशार्धे किं स सीदति ॥४॥

अर्थ–जिसप्रकार जिस मनुष्यमें यह सामर्थ्य है कि वह किसी भारको खुशी २ दो कोश ले जाता है तब वह उस भारको आधा कोश लेजानेमें खिन्न नहीं होता—आधा कोश लेजाना कुछ भी चीज न समझकर तत्काल ले जाता है उसी प्रकार जिस भावमें यह सामर्थ्य है कि उससे मोक्ष सुखकी प्राप्ति हो जाती है तब स्वर्ग सुखकी प्राप्ति क्या चीज है अर्थात् अत्यंत कठिन मोक्ष सुखके मिल जानेपर आसान स्वर्ग सुख मिल जानेमें कोई अडचन नहीं आसक्ती।

भावार्थ–जो पदार्थ महान शक्तिशाली होता है वह सरल और कठिन दोनों कार्य करसकता है और जो थोडी शक्तिवाला होता है वह सरल ही कार्य कर सकता है कठिन नहीं। सुखकी प्राप्तिमें सुद्रव्य सुक्षेत्र आदि सामग्री महान शक्तिवाला कारण है इसलिये उससे सरल कार्य स्वर्ग सुख भी प्राप्त होजाता है और कठिन कार्य मोक्ष सुख भी मिल जाता है किंतु अल्पशक्तिशाली व्रताचरणसे केवल स्वर्गसुख ही प्राप्त होगा मोक्ष सुख नहीं इसलिये विद्वान मनुष्योंको कभी आत्मभक्तिमें आलस नहीं होसकता किंतु वह यह समझकर कि अव्रतोंसे नरक आदि दुःखोंके साथ मोक्षप्राप्ति होगी और व्रताचरणसे स्वर्ग आदि सुखके साथ मोक्षप्राप्ति होगी, व्रताचरणके साथ सुद्रव्यादि सामग्रीकी प्राप्तिकेलिये ही प्रयत्न करता है। आत्मभक्ति किंवा आत्मध्यानसे स्वर्ग

सुख वा मोक्ष सुख दोनोंकी प्राप्ति होती है यह बात अन्यत्र भी कही है यथा—

> गुरूपदेशमासाद्य ध्यायमानः समाहितैः।
> अनंतशक्तिरात्मायं मुक्तिं भुक्तिं च यच्छति ॥ १९६ ॥
> ध्यातोऽर्हत्सिद्धरूपेण चरमांगस्य मुक्तये।
> तद्ध्यानोपात्तपुण्यस्य स एवान्यस्य भुक्तये ॥ १९७ ॥
>
> ( तत्त्वानुशासन )

अर्थात्— जो योगी गुरुके उपदेशके अनुसार इस आत्माका ध्यान करते हैं उन्हें अनंत शक्तिवाला यह आत्मा मोक्ष सुख वा स्वर्ग सुख प्रदान करता है। चरम शरीरी मनुष्य जिस समय इस आत्माका अर्हंत वा सिद्धरूपसे ध्यान करता है उस समय उसे मोक्ष सुखकी प्राप्ति होती है और चरम शरीरीसे भिन्न मनुष्य जिस समय अर्हंत वा सिद्धरूपसे इसका ध्यान करता है उस समय उसे स्वर्ग सुख प्राप्त होते हैं। सार यह है कि व्रत वा ध्यानके माहात्म्यसे जब सर्वथा विशुद्धता प्राप्त हो जाती है उस समय यह आत्मा परमात्मा हो जाता है और जब स्वर्ग वा चक्रवर्ती आदि सुखोंका कारण पुण्य प्राप्त हो जाता है उस समय यह आत्मा स्वर्ग सुख वा चक्रवर्तीके सुखोंका भोगनेवाला हो जाता है। यद्यपि व्रत आचरणका साक्षात् कार्य स्वर्ग आदि सुखोंकी प्राप्ति है तथापि बिना व्रत आचरणके स्वस्वरूपकी प्राप्ति होती नहीं इसलिये व्रत आचरण कभी व्यर्थ नहीं हो सकता ॥

अब आचरण वा आत्मभक्तिसे जब स्वर्ग सुखकी सिद्धि होगई तब स्वर्गमें जाने पर क्या क्या फल प्राप्त होते हैं? इस बातका समाधान ग्रन्थकार करते हैं—

हृषीकजमनातंकं दीर्घकालोपलालितं।
नाके नाकौकसां सौख्यं नाके नाकौकसामिव ॥५॥

अर्थ—देवगण स्वर्गमें इंद्रिय जन्य और शत्रु जन्य दुखसे रहित, बहुत काल तक भोगनेमें आनेवाले अनन्य तुल्य सुखका आस्वादन करते हैं।

भावार्थ—सुख आत्मिक धर्म है और उसकी प्रकटता स्वभावसेही मोक्ष अवस्थामें होती है क्योंकि वेदनीय कर्म उस आत्मिक धर्मरूप सुखका विरोधी है और जब तक जीव संसारमें रुलता रहता है तब तक बराबर वेदनीय कर्मका आत्माके साथ संबन्ध बना रहता है। कदाचित् स्वर्गके सुखको ही लोग वास्तविक सुख न मान बैठें इसलिये ग्रन्थकारने यहां उसका स्वरूप समझाया है कि स्वर्गका सुख इंद्रियोंसे जायमान, वैरियोंसे उत्पन्न हुए दुःखसे रहित, और बहुत काल तक उपयोगमें आनेवाला है इसलिये कुछ अच्छा है किंतु वास्तविक सुख इससे भिन्न है उसकी प्रगटतामें इंद्रियोंकी आवश्यकता नहीं, न कालकी मर्यादाकी जरूरत है इसलिये वास्तविक सुख अतींद्रिय और सर्वदा कायम रहनेवाला है किसी प्रकारके दुःखका उसके साथ मिश्रण ही नहीं इस-

लिये स्वर्ग आदिके सुख हेय और वास्तविक सुख उपादेय है। यहां पर ग्रन्थकारने देवोंका सुख देवोंके ही सुखके समान है इस प्रकारसे उपमालंकारका उपयोग किया है उसका तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार 'रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव' अर्थात् रामचंद्र और रावणका युद्ध रामचन्द्र और रावणके युद्धके समान ही हुआ, अन्य युद्ध कोई बढती और कमती है इसलिये अन्य युद्धोंसे उसकी तुलना नही हो सकती उसी प्रकार देवोंके सुखकी तुलना देवोंके ही सुखके साथ हो सकती है अन्य सुखके साथ नहीं क्योंकि अन्य सुख कोई बढती है और कोई कमती है॥ ५॥

यदि कदाचित् कोई मनुष्य हठसे यही स्वीकार कर बैठे कि संसारका सुख ही वास्तविक सुख है उसके प्रबोधार्थ ग्रंथकार उपदेश देते हैं—

वासनामात्रमेवैतत्सुखं दुःखं च देहिनां
तथा ह्युद्वेजयंत्येते भोगा रोगा इवापदि॥ ६॥

अर्थ—यह जो जीवोंका इंद्रियजन्य सुख है वह वासनासे उत्पन्न होनेके कारण दुःख ही है क्योंकि आपत्ति कालमें जिसप्रकार रोग चित्तमें घवडाहट उत्पन्न कर देते हैं उसीप्रकार भोग भी घवडाहट पैदा करनेवाले हैं।

भावार्थ—यह पदार्थ मेरा उपकारी है इसलिये इष्ट है और यह पदार्थ मेरा अनुपकारी है इसलिये अनिष्ट है इसप्र-

कारका जो कोई आत्माका संस्कार है वह वासना है। इसी वास-
नाके कारण, भोगोंसे उत्पन्न होनेवाले सुखको लोग वास्तविक
सुख समझ बैठते हैं यह बडी भूल है क्योंकि जिसप्रकार वि-
षूचिकालमें रोग हो जानेसे आत्माको घबडाहट हो जाती है
उसीप्रकार इन भोगोंसे भी घबडाहट होजाती है। कहा भी है—

रम्यं हर्म्यं चंदनं चंद्रपादा वेणुर्वीणा यौवनस्था युवत्यः।
नैते रम्याः क्षुत्पिपासार्दितानां सर्वारंभास्तंदुलप्रस्थमूलाः॥

अर्थात् जो मनुष्य भूख और प्याससे दुःखी हैं उन्हें
मनोहर महल, चंदन, चंद्रमाकी किरण, वेणु, बीन बाजा और
युवती स्त्रियां कुछ भी अच्छे नहीं लगते क्योंकि चावल
मोजूद हैं तो घर चंदन आदि समस्त पदार्थ अच्छे लगते हैं
नहीं तो नहीं, और भी कहा है—

आतपे धृतिमता सह वध्वा यामिनीविरहिणा विहगेन।
सेहिरे न किरणा हिमरश्मेर्दुःखिते मनसि सर्वमसह्यं॥

अर्थात् जो पक्षी अपनी प्यारीके साथ धूपमें उडता
फिरता था तथापि उसे धूपका कष्ट नहीं मालूम पडता था
उसी पक्षीका जिससमय अपनी प्राणप्यारीके साथ रातको
वियोग होगया तो उसे शीतल भी चंद्रमाकी किरणें अच्छी
नहीं लगीं इसलिये यह बात सर्वथा युक्त है कि इंद्रियोंसे उत्पन्न
होनेवाला सुख कल्पना या वासना मात्रसे जायमान होनेसे
असली नहीं और अतएव भोगोंसे सुखकी आशा दुराशा है,

जो चीज अभी सुख स्वरूप मालूम होती है वही कुछ काल बाद दुःख स्वरूप होजाती है किंतु वास्तविक निराकुलतामय सुख ही सुख है वह कभी दुःखरूप परिणत नहीं हो सकता इसलिये संसारके सुखको सुख समझना सर्वथा भ्रम है॥६॥

यदि सुख और दुःख वासनासे उत्पन्न हैं तो वे मालूम क्यों नहीं होते इस बातका ग्रंथकार समाधान करते हैं—

मोहेन संवृतं ज्ञानं स्वभावं लभते नहि।
मत्तः पुमान् पदार्थानां यथा मदनकोद्रवैः॥७॥

अर्थ— जिसप्रकार मादक पदार्थोंके खानेसे मत्त-पागल हुआ पुरुष पदार्थोंका स्वरूप नहिं जानता उसीप्रकार मोहनीय कर्मके द्वारा आच्छन्न ज्ञान भी पदार्थोंके वास्तविक स्वरूपको नहिं जान सकता।

भावार्थ—मदिरा आदिके पीनेसे जिसप्रकार मनुष्य का हिताहित विवेक नष्ट होजाता है, पागल होजानेसे कभी स्त्रीको मा, तो माको स्त्री कहने लगता है उसीप्रकार जिसस-मय ज्ञानपर मोहनीय कर्मका पर्दा पड जाता है उससमय दुःख स्वरूप भी संसारका सुख वास्तविक सुख जान पडने लगता है-जो भोग अनंत दुःखोंके देनेवाले हैं वे सुखके देनेवाले समझे जाते हैं और उससमय मोहनीय आदि कर्मोंकी कृपासे आत्मा भी अनेक प्रकारका मालूम पडने लगता है। जैसा कि कहा भी है—

मलविद्धमणेर्व्यक्तिर्यथा नैकप्रकारतः।
कर्मविद्धात्मविज्ञप्तिस्तथा नैकप्रकारतः॥ १॥

अर्थात्—जिसप्रकार मलके संबंधसे मणिके अनेक स्वरूप दीख पडते हैं उसीप्रकार कर्मोंके संबंधसे आत्मा अनेक प्रकारका दीख पडता है किंतु जिससमय मणिका सर्व मल नष्ट होजाता है उस समय उसका एक निर्मल स्वरूप दीख पडने लगता है उसीप्रकार जिससमय इस आत्मासे समस्त कर्मोंका संबंध छूट जाता है उससमय यह भी अखंड चैतन्य स्वरूप एक ही प्रकारसे मालुम पडने लगता है इसलिये मोहनीय कर्मकी कृपासे जो इस आत्माको दुःखस्वरूप भी संसारका सुख वास्तविक सुख जंचता है वह इसका पूर्ण अज्ञान है॥

वस्तुके वास्तविक स्वभावके न पहिचाननेके कारण क्या होता है? यह बतलाते हैं—

वपुर्गृहं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि शत्रवः।
सर्वथान्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते॥ ८॥

अर्थ—मोहनीय कर्मके जालमें फसकर जिससमय यह आत्मा मूढ होजाता है—कौन मेरा और कौन पराया है जिस-समय यह ज्ञान नहीं रहता उससमय यह मूढात्मा शरीर घर स्त्री पुत्र मित्र शत्रु आदि पदार्थ जो सर्वथा अन्य स्वरूप हैं उनको अपना मान लेता है। मोहनीयकर्मके जालमें फस आनेपर इसे यह ज्ञान ही नहीं रहता कि कौन मेरा और

कौन पराया है ॥ ८ ॥

इस बातके समझानेके लिये ग्रंथकार दृष्टांत देते हैं—

दिग्देशेभ्यः खगा एत्य संवसंति नगे नगे।

स्वस्वकार्यवशाद्यांति देशे दिक्षु प्रगे प्रगे॥ ९ ॥

अर्थ—पक्षिगण पूर्व आदि दिशा और अंग वंग आदि अनेक देशोंसे आकर वृक्षोंपर निवास करते हैं और प्रातः काल होते ही अपने अपने कार्यके सम्पादनके लिये इच्छानुसार दिशा और देशोंमें उडजाते हैं।

भावार्थ—जिसप्रकार पक्षियोंका कोई निश्चित स्थान नहीं, रात होजानेपर जहां जो वृक्ष देखा उसीपर बसेरा करलेते हैं और फिर सवेरा होते ही अपने अपने कार्यके करनेकेलिये इच्छानुसार जहां तहां उड जाते हैं उसीप्रकार संसारी जीवोंका भी कोई निश्चित स्थान नहीं, कर्मके जालमें जिकडे रहनेके कारण ये कभी नारकी तो कभी तिर्यंच आदि होते रहते हैं और अनंत कष्ट भोगते रहते हैं इसलिये आत्माका कर्तव्य यही है कि वह पुत्र आदि परपदार्थोंको अपना न माने जिससे कर्मोंका बल घट जाय और धीरे धीरे उनका सर्वथा नाश होजानेपर परिभ्रमणका दुःख मिट जाय ॥ ९ ॥

और भी अचार्य उपदेश देते हैं—

विराधकः कथं हंत्रे जनाय परिकुप्यति।

त्र्यंगुलं पातयन् पद्भ्यां स्वयं दंडेन पात्यते॥ १० ॥

अर्थ–जिसप्रकार कचडा या मिट्टी काटनेवाला पुरुष अंगुल ( आंगुरा ) को मिट्टी आदि काटनेकेलिये नीचें गिराता है तो उसके साथ स्वयं भी नीचा गिरजाता है–नम जाता है। उसीप्रकार जो मनुष्य दूसरेको मारता है तो स्वयं भी दूसरेसे मारा जाता है फिर न मालूम दूसरेको मारनेवाला मनुष्य जिससमय दूसरेसे बदलेमें मारा जाता है तब क्यों उसपर क्रोध करता है ?

भावार्थ–आंगुरा नामक यंत्र फावडेके समान कूडा या मिट्टीको काटनेके लिये होता है उसमें लगा हुआ काठका डंडा मोटा होता है इसलिये जिससमय मनुष्य उससे मिट्टी आदि काटता है उससमय वह मिट्टी आदि काटनेके लिये जमीनमें नीचे गिराया जाता है उसके साथ ही आंगुरा चलानेवाले मनुष्यको भी नीचें नमजाना पडता है उसीप्रकार जो मनुष्य दूसरेका अपकार करता है बदलेमें दूसरेसे भी स्वयं ही उसका अपकार किया जाता है। कहा भी है—

सुखं वा यदि वा दुःखं येन यस्य कृतं भुवि।
अवाप्नोति स तत्तस्मादेष मार्गः सुनिश्चितः ॥ १ ॥

अर्थात् यह बिलकुल निश्चित बात है कि जो दूसरेको सुख वा दुःख पहुंचाता है दूसरेसे उसे भी सुख किंवा दुःख भोगना पडता है इसलिये अपकार करनेवाले पुरुषका बदलेमें अपकार करनेवाले पुरुषपर नाराज होना व्यर्थ है। किंतु

यदि दूसरा कोई अपना अपकार करता है तो यह चित्तमें शमता रखनी चाहिये कि यह जो मेरा अपकार करता है सो बदलेमें कर रहा है मैंने भी पहिले इसका अवश्य अपकार किया होगा ॥ १० ॥

इष्ट पदार्थोंमें राग और अनिष्ट पदार्थोंमें द्वेष करनेवाले मनुष्यको क्या फल मिलता है ? इसबातको ग्रंथकार कहते हैं—

रागद्वेषद्वयीदीर्घनेत्राकर्षणकर्मणा
अज्ञानात्सुचिरं जीवः संसाराब्धौ भ्रमत्यसौ ॥११॥

अर्थ—जिसप्रकार मंदराचलको दीर्घ नेत्राकर्षणके कारण बहुत काल समुद्रमें घूमना पड़ा था इस प्रकारकी किंवदंती है उसी प्रकार यह अज्ञानी जीव भी राग और द्वेषके कारण चिरकाल तक संसार रूपी विशाल समुद्रमें भ्रमण किया करता है ।

भावार्थ—अन्यमतमें यह कथा प्रसिद्ध है कि मंदराचल पर्वतको विशाल नेत्रोंके धारण करनेकी इच्छा हुई थी इसलिये वह बहुत कालतक समुद्रमें घूमता रहा था (?) तो जिसप्रकार दीर्घ नेत्रोंके आकर्षणकी इच्छासे मंदराचलको चिरकाल समुद्रमें घूमना पड़ा था उसीप्रकार अज्ञानके कारण जो जीव राग और द्वेषमें मग्न रहते हैं इष्टपदार्थोंमें प्रेम और वैरियोंमें वैर रखना ही जिनके जीवनका उद्देश है वे बहुत कालतक संसारमें चलते रहते हैं और अनेक दुःख सहते रहते हैं ।

'रागद्वेषद्वयी' इहांपर द्वयी पद देनेका यह तात्पर्य है कि कि जहांपर राग होता है वहांपर द्वेष भी अवश्य होता है राग द्वेषका अविनाभाव संबंध है विना द्वेषके राग रह नहीं सकता। कहा भी है—

यत्र रागः पदं धत्ते द्वेषस्तत्रेति निश्चयः।
उभावेतौ समालंब्य विक्रमत्यधिकं मनः॥

अर्थात् यह बात बिलकुल निश्चित है कि जहांपर राग है वहां द्वेष नियमसे रहता है और जहांपर ये दोनों है वहां मनको अत्यंत क्षोभ होता है इसलिये जिन मनुष्योंका यह आग्रह है कि हम दूसरोंपर प्रेम ही करते हैं द्वेष नहीं यह उनका भ्रम है क्योंकि यदि प्रेमकी सत्ता आत्मामें विद्यमान है तो किसी न किसी पदार्थमें द्वेष भी अवश्य रहेगा ही तथा और जो संसारमें दोष हैं वे सर्व रागद्वेष मूलक हैं यदि आत्मामें राग द्वेषकी सत्ता मोजूद है तो समझना चाहिये कि वे दोष मोजूद हैं ही। कहा भी है—

आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात्परिग्रहद्वेषौ।
अनयोः संप्रतिबद्धाः सर्वे दोषाश्च जायंते॥ २॥

अर्थात्–जहांपर यह मेरा है यह ख्याल है वहांपर यह अन्य है यह ख्याल जबरन रहता ही है और जहांपर यह मेरा है एवं यह दूसरा है यह भान है वहांपर नियमसे राग और द्वेष विद्यमान रहते हैं तथा जहांपर राग और द्वेष दोनों मोजूद हैं वहांपर अन्य सब दोष उत्पन्न हो ही जाते हैं क्यों

कि अन्य दोषोंकी उत्पत्तिमें राग और द्वेष प्रधान कारण हैं समस्त दोष राग और द्वेषसे सटे हुए हैं। तथा इसरूपसे यह जीव अपने रागद्वेष रूप परिणामोंसे सदा इस संसारमें घूमता रहता है। कहा भी है—

जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो हवदि गदि सुगदी॥ १॥
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते।
तेहिंदु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा॥ २॥
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि।
इति जिणवरेहिं भणियं अणाइणिहणो सणिहणो वा॥ ३॥

अर्थात्—जो जीव संसारमें रुलनेवाला है उसके राग द्वेष आदि परिणामोंकी उत्पत्ति होती रहती है। परिणामोंके द्वारा शुभ अशुभ कर्मोंका आस्रव होता रहता है। अशुभ कर्मोंके आस्रवसे कुगति और शुभकर्मोंके आस्रवसे उच्चगति मिलती है। गतियोंमें जानेके कारण शरीरकी प्राप्ति होती है शरीरकी प्राप्तिसे इंद्रियोंकी प्राप्ति होती है। इंद्रियोंसे स्पर्श रस आदि विषयोंका ग्रहण होता है। विषयोंके ग्रहणसे यह अच्छा और यह बुरा है इस प्रकारके राग और द्वेष रूप परिणाम होते हैं। रागद्वेष होनेसे संसारमें रुलना पड़ता है इस प्रकार यह जीव अनादिकालसे सदा इस संसारमें घूमता रहता है कभी इसको असली सुख प्राप्त

नहिं होता। इसलिये राग द्वेष सर्वथा हेय हैं॥ ११॥

यदि संसारमें रुलने पर भी आनन्द मिले तो फिर संसारका नाश करना व्यर्थ है इस आक्षेपका ग्रंथकार निराकरण करते हैं—

विपद्भवपदावर्ते पदिकेवातिवाह्यते।

यावत्तावद्भवंत्यन्याः प्रचुरा विपदः पुरः॥ १२॥

अर्थ–संसाररूपी पैरसे चलनेवाले यंत्रमें उस घटीयंत्रके दंडके समान जबतक एक विपत्ति नष्ट होती है तबतक अन्य बहुतसी विपत्तियां सामने आकर उपस्थित हो जाती हैं–विपत्तियोंका अंत नहीं होता।

भावार्थ–जिससे कूएसे जल निकाला जाता है ऐसे पैरसे चलनेवाले यंत्रका नाम पदावर्त है तो उस यंत्रके एक दंडके घडोंके खाली होते ही जिसप्रकार बहुतसे घडे सामने नजर आते हैं उसीप्रकार यह संसार भी एकप्रकारका घटीयंत्र ही है इसमें एक विपत्ति नष्ट हुई तो दूसरी सैकडों विपत्तियां शीघ्र सामने आकर खडी होजाती हैं इसलिये संसार में सदा दुःख ही है आनन्दका लेश नहीं, आनन्द मानना परम अज्ञान है॥ १२॥

संसारमें सभी दुःखी नहीं अनेक संपत्तिशाली भी दीख पडते हैं इसलिये संपत्तिशालियोंको तो सुख मानना ही पडेगा इसका समाधान ग्रंथकार करते हैं—

दुरर्ज्येनासुरक्ष्येण नश्वरेण धनादिना।
स्वस्थंमन्यो जनः कोऽपि ज्वरवानिव सर्पिषा॥१३॥

अर्थ—जिसप्रकार ज्वरसे दुःखित मनुष्य ज्वरकी दाह मिटानेके लिये घी खाकर अपनेको स्वस्थ मानता है परंतु वास्तवमें वह स्वस्थ नहीं हो सकता, घीके खानेसे उसे और भी दुःख होगा उसीप्रकार अज्ञानी मनुष्य धन आदिसे अपनेको सुखी मानता है परंतु वह सुखी नहीं कहा जासकता क्योंकि धन दुरर्ज्य है उसके कमानेमें अत्यन्त कष्ट होता है। असुरक्ष्य है धन होजानेपर बडी कठिनतासे उसकी रक्षा होती है और नश्वर है देखते देखते नष्ट होजानेवाला है।

भावार्थ—धनका यह स्वरूप बतलायागया है कि—

अर्थस्योपार्जने दुःखमर्जितस्य च रक्षणे।
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थं दुःखभाजनं॥१॥

अर्थात्—धन उपार्जन करो तब भी कष्ट, क्योंकि धन कमानेके लिये जो कार्य न करने लायक हैं वे भी करने पडते हैं। कदाचित् भाग्यसे धन हाथ भी लग जाय तब भी कष्ट, क्योंकि उस धनको हरण करनेके लिये चोर आदि अवसर देखा करते हैं इसलिये उसकी रक्षाके लिये रात दिन चौकन्ना रहना पडता है सदा उसके रक्षाकी चिंता ही बनी रहती है। तथा जिससमय धनका आना होता है उससमय आय हुई पचास हजारकी और इच्छा हुई दश लाखकी तब

भी कष्ट हुआ कि हाय दशलाख न आया और किसी कार्यमें वह खर्च होगया तो हाय इतना खर्च होगया यह चिंता रात दिन सताती है इसलिये जब यह बात हेतु सिद्ध है कि धन कभी सुख देनेवाला नहीं तब धनवानोंको सुखी समझना बिलकुल अज्ञान है ॥ १३ ॥

यदि यह शंका हो कि जब संपत्ति इसप्रकार महाकष्ट देनेवाली है तब लोग उसे छोडते क्यों नहीं ? रातदिन क्यों उसके चक्रमें घूमा करते हैं, उसका समाधान ग्रंथकार करते हैं—

विपत्तिमात्मनो मूढः परेषामिव नेक्षते ।
दह्यमानमृगाकीर्णवनांतरतरुस्थवत् ॥ १४ ॥

अर्थ—अनेक वनचर जीवोंसे भरेहुए वनमें आग लग जानेपर वृक्षके ऊपर बैठे हुए मनुष्यके समान यह अज्ञानी जीव दूसरोंके समान अपनी विपत्तिका जरा भी ख्याल नहीं करता ।

भावार्थ—जिसप्रकार अनेक जंगली जीवोंसे भरे वनमें आग लगजानेपर उससे बचनेकेलिये कोई मनुष्य ऊपर वृक्षके चढ जाता है और यह समझता है कि मैं ऊंचा बैठा हूं, अग्नि मेरा कुछ नहीं कर सकती परन्तु उस मूढको यह नहीं जान पडता कि जिसप्रकार ये जंगली जीव भस्म हो रहे हैं उसीप्रकार थोडी देरमें मैं भी भस्म होजाऊंगा, उसीप्रकार यह अज्ञानी जीव धनादिसे अन्य मनुष्यपर आई विपत्तिका

तो ख्याल करता है परन्तु अपनेलिये धनादिके उपार्जन करनेमें जरा भी विश्राम नहीं लेता और उस धनसे आगे होनेवाली विपत्तिका जरा भी ध्यान नहीं करता इसलिये धन आदिसे आई हुई अन्य मनुष्यकी विपत्ति देखकर आशा तो धनकी सर्वथा छोड ही देनी चाहिये परन्तु उसको नहीं छोडता यह उसका पूर्ण अज्ञान है ॥ १४ ॥

यदि यह कहा जाय कि इसप्रकार धनसे अनेक विपत्तियोंके होनेपर भी धनी लोग क्यों उन विपत्तियोंको नहीं देखते ? उसका समाधान ग्रंथकार करते हैं—

आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्षहेतुं कालस्य निर्गमं ।
वांछतां धनिनामिष्टं जीवितात्सुतरां धनं ॥१५॥

अर्थ—कालका बीतना आयुके क्षयका करनेवाला और धनकी वृद्धि करनेवाला है अर्थात् जैसा जैसा काल बीतता जाता है वैसी ही वैसी आयु कम होती जाती है और योग्य व्यापार आदिसे धनकी उन्नति होती जाती है तोभी धनी लोग कालका बीतना अच्छा समझते हैं इसलिये यही कहना पडेगा कि धनी लोगोंको धन अपने जीवनसे भी अधिक प्यारा है।

भावार्थ—लोभ कषायका ऐसा आत्माके ऊपर संस्कार बैठा हुआ है कि उसके वशीभूत हुआ आत्मा अपने जीवनसे भी प्यारा धन समझता है, देखो ! यद्यपि कालकी गति

आयुका क्षय करती है परन्तु धनकी वृद्धिमें वह कारण है इसलिये आयुकी कुछभी पर्वाह न कर लोग धन वृद्धिकी आशासे कालके बीतनेको भी अच्छा समझते हैं इसलिये धनी लोग जो धनसे उत्पन्न होनेवाली विपत्तियोंका विचार नहीं करसकते उसमें लोभ कषाय ही कारण है॥ १५॥

धनसे ही पात्र दान देव पूजा आदि कार्य होते हैं बिना धनके नहीं, इसकारण जब धन पुण्यका कारण है तब वह निंद्य नहीं होसकता, ग्रंथकार इसका उत्तर देते हैं—

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः।
स्वशरीरं स पंकेन स्नास्यामीति विलंपति॥ १६॥

अर्थ—जो निर्धनी मनुष्य पात्रदान आदि अपूर्व पुण्य की प्राप्तिकी आशासे सेवा कृषि आदिसे धन उपार्जन करता है वह मनुष्य अपने निर्मल शरीरमें 'नहालूंगा' इस आशा से कीचड लपेटता है।

भावार्थ—बहुतसे मनुष्योंका यह ख्याल रहता है चाहे कितना भी खराब मार्ग हो उससे धन तो कमा लेना परन्तु उसे दान आदि पुण्य कार्यमें लगा देना चाहिये ऐसा करनेसे धनके कमानेमें जो पापास्रव हुआ था उसकी जगह दान आदिमें धन खर्च होजानेसे पुण्यास्रव हो जायगा। परन्तु यह विचार ठीक नहीं क्योंकि जिस प्रकार किसी प-

नुष्यका शरीर निर्मल है परन्तु वह यह कहकर कि 'नहा-लूंगा' उस शरीरमें कीचड लपेट लेता है तो उसका वह कार्य ठीक नहीं माना जाता, वैसा करनेवाला पुरुष अज्ञानी माना जाता है। उसीप्रकार जो मनुष्य यह कहकर कि 'मैं अपने धनको दान आदि उत्तम क्रियाओंमें खर्च करूंगा, कुमार्गोंसे धन उपार्जन करता है वह भी अज्ञानी गिना जाता है। ऐसा करनेसे कभी मनुष्यका इष्ट सिद्ध नहीं हो सकता। वास्तवमें तो धनका उपार्जन शुद्ध भावोंसे हो ही नहीं सकता। जैसाकि कहा है—

शुद्धैर्धनैर्विवर्द्धंते सतामपि न संपदः।
नहि स्वच्छांबुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिंधवः॥ १६॥

अर्थात् जिसप्रकार निर्मल जलसे नदियोंकी भरबारी नहीं होती, गदले ही जलसे होती है उसी प्रकार सज्जनोंकी भी संपत्ति शुद्ध मार्गसे कमाए हुए धनसे नहीं बढती, धन संचयमें निंदित मार्गका सहारा लेना ही पडता है इसलिये जहांतक बने शुद्ध भावोंसे ही धनका उपार्जन करना चाहिये और संसारकी दृष्टिमें जो निंदित मार्ग हैं उनसे धन कमा-कर दान आदि शुभ कार्योंमें खर्च करना कभी हितकर न समझना चाहिये॥ १६॥

यदि कदाचित् यह शंका की जाय कि पापजनक हो-नेसे धन निंद्य है परन्तु विना धनके भोग उपभोग जरा भी

नहीं हो सकता इसलिये भोग और उपभोगकी प्राप्तिमें अ-साधारण कारण होनेसे वह प्रशस्त ही गिना जायगा—निंद्य नहीं कहा जा सकता, उसका समाधान ग्रन्थकार करते हैं—

आरंभे तापकान्प्राप्तावतृप्तिप्रतिपादकान् ।
अंते सुदुस्त्यजान् कामान् कामं कः सेवते सुधीः।

अर्थ—भोग जिससमय उत्पन्न होते हैं उससमय अनेक संताप देते हैं, जब प्राप्त हो जाते हैं तब उनके भोगनेसे तृप्ति नहीं होती इसलिये सदा चित्तमें घबडाहट बनी रहती है तथा अन्तकालमें भोगोंके छोडनेका साहस नहीं होता इसलिये उससमय भी कष्ट ही देते हैं इसलिये ऐसे अहितकारी भोगोंका विद्वान मनुष्य तो कभी सेवन नहीं करता।

भावार्थ— आदि मध्य और अन्त तीनों अवस्थाओंमेंसे यदि एक भी अवस्थामें भोगसे सुख मिले तब तो भोग अच्छे भी माने जांय किंतु वहां तो सुखका लेश भी नहीं क्योंकि खेती सेवा आदि अनेक कष्ट प्रदान करनेवाले कार्योंसे अन्न आदि भोग्य पदार्थोंका सम्पादन होता है इसलिये प्रारंभमें ही भोगोंसे देह इंद्रिय और मनको अत्यन्त कष्ट होता है। यदि कदाचित् भोगोंकी प्राप्ति हो जानेपर सुख माना जाय सो भी वृथा है क्योंकि भोगोंके प्राप्त होजानेपर भी तृष्णा मार लेती है—कभी भोगोंसे तृप्ति ही नहीं होती। कहा भी है—

अपि संकल्पिताः कामाः संभवंति यथा यथा।
तथा तथा मनुष्याणां तृष्णा विश्वं प्रसर्पति ॥

अर्थात्– भोग जैसे जैसे प्राप्त होते जाते हैं और उनको सुखका कारण माना जाता है वैसे ही वैसे मनुष्यकी तृष्णा भी बढती चली जाती है, तृप्ति कभी होती ही नही। कदाचित यह माना जाय कि भोगोंके यथेष्ट भोगनेपर मनुष्यकी तृष्णा बुझ जायगी, वह तृप्त हो जायगा सो भी नहीं क्योंकि अंत कालमें भी वे छोडे नहीं जाते जैसे २ अधिक भोग बढते जाते हैं उतनी ही उतनी तृष्णा भी बढती चली जाती है–तृप्ति हो ही नहीं सकती। कहा भी है–

दहनस्तृणकाष्ठसंचयैरपि तृप्येदुदधिर्नदीशतैः।
न तु कामसुखैः पुमानहो बलवत्ता खलु कापि कर्मणः॥

अर्थात्– कितना भी अग्निमें काठ डाला जाय तो भी वह तृप्त नहीं होती लेकिन वह तृप्त हो जाय, सैकडों नदियोंसे समुद्रकी तृप्ति नहीं होती तौभी शायद उसकी भी तृप्तिहो जाय परन्तु भोगोंसे मनुष्य कभी तृप्त नहीं हो सकता। कर्म बडाही बलवान है इसलिये–

तदात्वसुखसंज्ञेषु भावेष्वज्ञोऽनुरज्यते।
हितमेवानुरुध्यंते प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः॥

अर्थात्– जो मनुष्य मूढ हैं–हित अहितके विवेकसे शून्य हैं वे ही भोगते समय सुखकारी जान भोगोंमें अनुराग करते हैं–उन्हें अच्छा समझ भोगते हैं किंतु जो मनुष्य परीक्षा प्रधानी हैं, हर एक बातकी परीक्षा करनेकी शक्ति-

रखते हैं वे दुःखदायी भोगोंकी ओर न झुककर हितकारी मार्गका ही अनुसरण करते हैं।

यदि यह कहा जाय कि विद्वान लोग तो विषय भोगते ही देखे गये हैं। उनकी विषयोंसे विरक्ति नहीं देखी जाती इसलिये विद्वान लोग भोगोंको नहीं भोगते यह कहना निरर्थक है उसका समाधान यह है कि यद्यपि तत्त्वज्ञानी पुरुष चारित्र मोहनीयकर्मके उदयसे भोगोंके छोडनेमें असमर्थ हैं तथापि अज्ञानी जिसप्रकार विषयभोगोंको हितकारी मान उनका सेवन करता है वैसा ज्ञानी लोग नहीं करते, वे हेय समझकर उनको भोगते हैं। कहा भी है—

इदं फलमियं क्रिया करणमेतदेष क्रमो
व्ययोयमनुषंगजं फलमिदं दशेयं मम।
अयं सुहृदयं द्विषन् प्रयतिदेशकालाविमा-
विति प्रतिवितर्कयन् प्रयतते बुधो नेतरः ॥ ४ ॥

अर्थात्–यह फल है, यह क्रिया है, यह करण है, यह उसका क्रम है, यह हानि है, भोगोंके संबन्धसे यह फल प्राप्त होता है, मेरी यह दशा है, यह मित्र है, यह शत्रु है, यह ऐसा देश और यह ऐसा काल है इसप्रकार परिपूर्ण विचार बुद्धि विद्वानकी ही होती है, अज्ञानीकी नहीं इसलिये हेयरूपसे विषयोंके भोगनेपर जिससमय विद्वानका चारित्रमोहनीयकर्म सर्वथा निर्बल होजाता है, वह तब सर्वथा

विषयोंका त्याग करदेता है अज्ञानी ऐसा नहीं करसकता। वास्तवमें तो जिसको विषय सुख कहते हैं वह विष ही है, कहाभी है—

किमपीदं विषयमयं विषमतिविषमं पुमानयं येन।
प्रसभमनुभूयमानो भवे भवे नैव चेतयते ॥ ५ ॥

अर्थात्– यह जो विषयमय सुख है वह अत्यंत भयंकर विष है तथापि संसारमें प्रत्येक जगह इस विषका अनुभवन करनेवाला और उससे उत्पन्न होनेवाले दुःखको भोगनेवाला भी यह पुरुष अज्ञानी बना हुआ है। इसलिये जो ऊपर यह शंका की गई थी कि धन भोग उपभोगका कारण है इसलिये प्रशस्य है वह ठीक नहीं क्योंकि भोगउपभोग अशुभ कर्मके कारण हैं यदि धनसे भोग उपभोगोंकी उत्पत्ति होती है तो वह धन सर्वथा निंद्य ही है ॥ १७ ॥

धनसे शरीरका उपकार होगा और शरीरसे सुख मिलेगा इसलिये धन निंद्य नहीं हो सकता इस बातका ग्रन्थकार समाधान देते हैं—

भवंति प्राप्य यत्संगमशुचीनि शुचीन्यपि।
स कायः संततापायस्तदर्थे प्रार्थना वृथा ॥ १८ ॥

अर्थ– जिसके संबंधसे पवित्र भी पदार्थ अपवित्र हो जाते हैं और जो सदा नाश स्वरूप है उस शरीरका पवित्र पदार्थोंसे उपकार करना व्यर्थ है।

भावार्थ- शरीर सरीखा निकृष्टपदार्थ कोई नहीं क्योंकि चाहे अत्यंत सुगंधित भी इत्र फुलेल आदि पदार्थोंसे इसका उपटन किया जाय वे सब इसके संबंधसे दुर्गंधित अपवित्र होजाते हैं तिसपर भी यह शरीर निश्चित नहीं सदा नाश-स्वरूप है इसलिये जो यह कहा गया था कि धनसे शरीरका उपकार होगा और शरीरसे सुख मिलेगा वह सब व्यर्थ है शरीरसे कभी सुखकी प्राप्ति नहीं तब धन आदिसे उसका उपकार करना ठीक नहीं है इसलिये धन कभी प्रशस्य नहीं हो सकता ॥ १८ ॥

यदि यह कहा जाय कि धन आदिसे शरीरका उपकार मत हो आत्माका उपकार होगा इसलिये धन निंद्य नहीं कहा जा सकता उसका समाधान ग्रंथकार देते हैं—

यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यापकारकं ।
यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकं ॥ १९ ॥

अर्थ-जो पदार्थ जीवका उपकारक है वह शरीरका उपकारक नहीं हो सकता-अपकारक ही होगा। तथा जो देहका अपकारक है, वह जीवका अपकारक न होगा-उप-कारक ही होगा।

भावार्थ—अनशन अवमोदर्य आदि तपोंसे समस्त पापों का नाश होता है और आत्मा निर्मल होजाता है इसलिये

अनशन आदि तप आत्माके तो उपकारी हैं परन्तु शरीरके नहीं क्योंकि उनके करनेसे वह सूख जाता है और ग्लानिका कारण बन जाता है। तथा भोजनादि पदार्थोंसे शरीरकी पुष्टि होती है वह सबल और कांतिमान होजाता है इसलिये भोजनादि पदार्थ शरीरके तो उपकारी हैं परंतु आत्माके नहीं क्योंकि उनके सेवन करनेसे कर्मोंका आस्रव होता है और उनसे आत्मा मलिन होकर नरक आदि दुर्गतियोंका पात्र बन जाता है, इसलिये यह जो कहा गया था कि धनसे शरीरका उपकार मत हो, आत्माका उपकार होगा, यह ठीक नहीं। धनसे कभी आत्माका उपकार नहीं हो सकता ॥ १९ ॥

शंका—'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनं' अर्थात् धर्मसिद्धिका मुख्य कारण शरीर है—विना शरीरके धर्म साधन नहीं हो सकता इसलिये उसका नाश न हो इस रूपसे उपकार करना ही चाहिये। यदि यह कहा जाय कि शरीरका नाश न होसके इसरूपसे उपकार हो ही नहीं सकता सो ठीक नहीं क्योंकि ध्यानसे सब बात सुकर होजाती है। कहा भी है—

> यदात्रिकं फलं किंचित्फलमामुत्रिकं च यत्।
> एतस्य द्विगुणस्यापि ध्यानमेवाग्रकारणं ॥ १ ॥

अर्थात इसलोक और परलोक संबंधी दोनों प्रकारके फल ध्यानसे प्राप्त होजाते हैं तथा यह भी कहा है 'झाणस्स ण-

दुर्लभं किंचि' अर्थात् ध्यानकेलिये कोई बात दुर्लभ नहीं सब चीजें प्राप्त होसकती हैं इसलिये ध्यानसे शरीरका-नाश न हो ऐसा उपकार हो सकता है । इस बातका ग्रन्थकार समाधान देते हैं–

इतश्चिंतामणिर्दिव्य इतः पिण्याकखंडकं ।
ध्यानेन चेदुभे लभ्ये क्वाद्रियंतां विवेकिनः ॥२०॥

अर्थ– एक ओर तो अभीष्ट पदार्थोंको प्रदान करने वाला चिंतामणि रत्न है दूसरी ओर खलका टुकडा है, ध्यानसे ये दोनो ही बातें प्राप्त होती हैं तो बताइये विवेकी लोग किसका आदर करें ? किसकी प्राप्तिका यत्न करें ?

भावार्थ– ध्यानसे दोनों बातें प्राप्त हो जाती हैं यदि उत्तम ध्यानोंका आराधन किया जाय तो चिंतामणि रत्नके समान उत्तम पदार्थ– स्वस्वरूपकी प्राप्ति यह आत्मा कर लेता है और यदि अशुभ ध्यानोंका आराधन किया जाय तो खलके टुकडेके समान निरर्थक इस लोक संबंधी सुख प्राप्त होजाता है इसलिये शरीरका नाश न हो इस अभिलाषासे ध्यान करना अयुक्त है किंतु स्वस्वरूपकी प्राप्तिके लिये ही ध्यान का आराधन हितकारी है । कहा भी है—

तद्ध्यानं रौद्रमार्तं वा यदैहिकफलार्थिनां ।
तस्मादेतत्परित्यज्य धर्म्यं शुक्लमुपास्यतां ॥ १ ॥

अर्थात्– जो लोग ध्यानसे इसलोकसंबंधी फलकी

अभिलाषा करते हैं वह ध्यान आर्तध्यान और रौद्र ध्यानके भेदसे दो प्रकारका है और जिससे स्वस्वरूपकी प्राप्ति होती है उस ध्यानके धर्म्य और शुक्ल दो भेद हैं। विद्वान मनुष्यों का कर्तव्य है कि वे इस लोक संबंधी, परिणाममें दुःखदायी फलको देनेवाले आर्त और रौद्र ध्यानोंका सर्वथा त्याग करदें और धर्म्य एवं शुक्ल ध्यानोंका आराधन करें ॥२०॥

ग्रंथकार आत्माका स्वरूप बतलाते हैं—

स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः।
अत्यंतसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः॥

अर्थ—यह आत्मा स्वानुभव प्रत्यक्षका विषय है, शरीरकी बराबर है, अविनाशी है, अत्यंत सुखस्वरूप है और लोक अलोकका साक्षात्कार करनेवाला है।

भावार्थ— बहुतसे लोगोंका यह ख्याल है कि जो वस्तु किसी न किसी प्रमाणके गोचर है उसीका गुणानुवाद करना उचित है। असिद्ध वस्तुका गुणानुवाद नहीं करना चाहिये उसके परिहारके लिये ग्रंथकारने विशेषण दिया है कि 'स्वसंवेदनसुव्यक्तः' अर्थात् अमूर्तिक पदार्थ होनेके कारण और किसी प्रमाणका विषय आत्मा नहीं हैं परन्तु स्वसंवेदन प्रत्यक्षका विषय है अहं अहं (मैं मैं) इस रूप जो कोई अंतर्मुखाकार रूपसे ज्ञान होता है उससे आत्माकी सत्ता सिद्ध हो जाती है इसलिये आत्माको असिद्ध कहना

प्रमाण बाधित है। स्वसंवेदन प्रत्यक्षका स्वरूप यह कहा है:-

वेद्यत्वं वेदकत्वं च यत्स्वस्य स्वेन योगिनः।
तत्स्वसंवेदनं प्राहुरात्मनोऽनुभवं दृशं ॥ १ ॥

अर्थात्- योगीका अपनेही द्वारा अपनेका ज्ञेयपना और ज्ञातापना है उसका नाम स्वसंवेदन है और उसीको अनुभव प्रत्यक्ष कहते हैं।

बहुतसे लोगोंका यह सिद्धांत है कि आत्मा व्यापक है अर्थात् जिसप्रकार आकाश सब जगह मौजूद है कहीं पर भी उसका अभाव नहीं कहा जासकता उसी प्रकार आत्मा भी सब जगह मोजूद है उसका भी कहीं पर अभाव नहीं कहा जा सकता। तथा बहुतसे लोग यह भी मानते हैं कि जिसप्रकार बडका बीज बहुत छोटा होता है उसीप्रकार आत्मा भी बहुत छोटा पदार्थ है। उनके सिद्धांतके परिहारके लिये ग्रंथकारने आत्माके लक्षणमें 'तनुमात्र' विशेषण दिया है उसका तात्पर्य यह है कि आत्मा आकाशके समान व्यापक नहीं, न वटके बीजके समान छोटा है किंतु अपने शरीरके परिमाण है जैसा जैसा शरीर धारण करता है उसीके अनुसार इसके आत्मप्रदेश हीनाधिक होजाते हैं। यदि हाथीका शरीर धारण किया तो उसके शरीरके समान इसके प्रदेश विस्तृत हो जाते हैं और यदि चींवटी का शरीर धारण करता है तो उसके समान इस आत्माके प्रदेश संकुचित हो जाते हैं।

चार्वाक (नास्तिक) लोगोंका सिद्धांत है कि जिसप्रकार कोदों महुआ आदि पदार्थोंके संबंधसे मादक शक्ति पैदा होजाती है और जो मनुष्य उन पदार्थोंसे बनी हुई शराबको पीता है वह मत्त हो जाता है उसीप्रकार पृथ्वी जल आदि भूतोंका जिससमय एक विलक्षण संयोग होजाता है उससमय एक शक्ति उत्पन्न हो जाती है वही शक्ति आत्मा है इससे भिन्न कोई आत्मा पदार्थ नहीं इसलिये उस शक्तिरूप आत्माकी सत्ता गर्भसे लेकर मरण पर्यंत ही है। जैसे ही मरण हुआ वह शक्तिरूप आत्मा भी नष्ट होगया उसके सिद्धांतके निरासार्थ ' निरत्ययः ' यह विशेषण दिया गया है उसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा आत्मा प्रति समय विनाशीक है तथापि द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा वह अविनाशी है, आत्मत्वेन कभी उसका नाश नहीं होता इसलिये पृथ्वी जल आदि पदार्थोंके संयोगसे उत्पन्न शक्तिस्वरूप आत्मा नहीं पड सकता।

सांख्य और योग, सुख आत्माका धर्म नहीं मानते जड स्वरूप प्रकृतिका धर्म मानते हैं इसलिये जब तक आत्माकी मोक्ष नहीं होती तब तक इसमें प्रकृतिके संबंधसे सुखका भान होता है और मोक्ष हो जानेपर सुखकी सत्ता आत्मामें नहीं रहती ऐसा मानते हैं उनकेलिये ग्रंथकारने ' अत्यन्तसौख्यवान् ' यह पद दिया है उसका तात्पर्य है कि सुख, प्रकृति आदि जड पदार्थोंका स्वरूप नहीं, आत्मा

का ही स्वरूप है, यद्यपि कर्मोंके जालमें फिकडे रहनेके कारण उसका परिपूर्ण स्वरूप संसारावस्थामें प्रगट नहीं होता तथापि वह मोक्षावस्थामें सर्वथा व्यक्त हो जाता है।

'ज्ञानशून्यं चैतन्यमात्रमात्मा' अर्थात् ज्ञानसे रहित केवल चैतन्यस्वरूप आत्मा है ऐसा सांख्यमतावलंबियोंका सिद्धान्त है। 'बुद्ध्यादिगुणोज्झितः पुमान्' अर्थात् बुद्धि सुख दुःख इच्छा आदि नव गुणोंसे रहित पुरुष-आत्मा है, ऐसा योग कहते हैं। बौद्धोंका सिद्धान्त है कि आत्मा कोई पदार्थ ही नहीं, नैरात्म्यवाद ही पदार्थ है। इन सबोंके सिद्धांतके परिहारकेलिये ग्रंथकारने 'लोकालोकविलोकनः' यह पद दिया है अर्थात् आत्मा लोक और अलोकका द्रष्टा और ज्ञाता है इसलिये सांख्यकार जो मानते हैं कि आत्मा ज्ञानशून्य है वह मिथ्या है क्योंकि यदि ज्ञान आत्माका स्वरूप न हो तो आत्मा लोक अलोकका ज्ञाता द्रष्टा नहीं हो सकता। योग जो यह मानते हैं कि ज्ञान आत्माका स्वभाव नहीं, वह भी मिथ्या है क्योंकि आत्माको ज्ञानस्वरूप न माननेसे वह लोक अलोकका ज्ञाता और द्रष्टा नहीं बन सकता। तथा बौद्ध जो नैरात्म्यवाद ही पदार्थ बतलाते हैं वह भी उनका भ्रम है। यदि वैसा स्वीकार कर लिया जायगा तो आत्मा पदार्थ ही सिद्ध न होगा और आत्मपदार्थके अभावमें लोक और अलोकका दर्शक और ज्ञापक भी कोई सिद्ध नहीं हो सकता इसलिये आत्मा ज्ञानस्वरूप आदि है यही सर्वोपरि

सिद्धांत है। जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल ये छह पदार्थ जिसमें पाये जावें वह लोक और जिसमें सिवाय आकाशके अन्य कोई द्रव्य न पाई जाय उसका नाम अलोक है ॥ २१ ॥

शंका—आत्मा प्रमाण सिद्ध है और वह उपास्य भी है तो उसकी उपासनाका क्या उपाय है ? उत्तर—

संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसः ।
आत्मानमात्मवान् ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थितं ॥२२॥

अर्थ—आत्माको चाहिये कि वह चित्तकी एकाग्रतासे इंद्रियोंको वशकर अपनेही द्वारा अपनेमें अपने स्वरूपका ध्यान करे।

भावार्थ—आत्माके ज्ञानमें अन्य किसी कारणकी आवश्यकता नहीं पड़ती, अपनेही स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे उसका साक्षात्कार होजाता है। कहा भी है।

स्वपरज्ञप्तिरूपत्वान्न तस्य करणांतरं।
ततश्चिंतां परित्यज्य स्वसंवित्त्यैव वेद्यतां ॥ १ ॥

अर्थात्—आत्मा स्वपर प्रकाशक है जिसप्रकार दीपकको अपने स्वरूपके प्रकाशनके लिये अन्य दीपककी आवश्यकता नहीं पड़ती उसीप्रकार आत्माको भी अपने ज्ञान करनेकेलिये अन्य पदार्थकी आवश्यकता नहीं पड़ती इसलिये आत्माके ज्ञानकेलिये अन्य पदार्थकी चिंता न कर अपनेही स्वसंवेदन

प्रत्यक्षसे उसका ज्ञान करना चाहिये और स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे ज्ञान उसीसमय होगा जब श्रुतज्ञानके अवलंबनसे द्रव्य वा पर्यायका आश्रय कर चित्त एकाग्र होगा एवं चित्तके एकाग्र होनेसे इंद्रियां वश होजायगीं। क्योंकि मनके एकाग्र न होनेसे इंद्रियां अपने अपने रूप आदि विषयोंकी ओर झुकेंगी, उससे मन विक्षिप्त होगा इसलिये स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे आत्माकेअनुभवकेलिये अवसर न मिलेगा। कहा भी है–

गहियं तं सुअणाणा पच्छा संवेयणेण भाविज्जा।
जो णहु सुयमवलंबइ सो मुज्झइ अप्पसब्भावं॥ १॥

अर्थात्–श्रुतज्ञानके अवलंबनसे आत्माको जानकर पीछे स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे उसका अनुभव करना चाहिये। जो पुरुष श्रुतज्ञानका अवलंबन न करेगा वह आत्मस्वभावको न जान सकेगा। आत्मस्वरूपके पहिचाननेकी उसमें योग्यता नहिं हो सकती। और भी कहा है–

प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं मां मयैव मयि स्थितं।
बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानंदनिर्वृतं॥ २॥

अर्थात्–विषयोंसे विरक्त हो जानेपर परमानंदकी छटासे परिपूर्ण सम्यग्ज्ञानस्वरूप मुझको मैं ही अपनेमें अपने द्वारा प्राप्त हुआ हूं इसलिये जो यह शंका की गई थी कि आत्माकी उपासना कैसे होती है? वह बतला दिया गया कि मनकी निश्चलतासे इंद्रियोंके वश होजानेपर स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे आत्माकी उपासना होती है॥ २२॥

शंका—विद्वानोंकी प्रवृत्ति किसी न किसी प्रयोजनसे होती है तो आत्माकी उपासनासे क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? उत्तर—

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः ।
ददाति यत्तु यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदं वचः ॥२३॥

अर्थ—संसारमें यह बात प्रसिद्ध है कि जो चीज जिसके पास होती है वही वह दूसरेको दे सकता है इसलिये जो अज्ञानस्वरूप शरीर आदि वा मूर्ख गुरु आदि हैं उनकी उपासनासे अज्ञानकी प्राप्ति होती है और जो ज्ञानी हैं उनकी उपासनासे ज्ञानकी प्राप्ति होती है ।

भावार्थ—धनीकी सेवासे धन और विद्वानकी सेवासे विद्याकी प्राप्ति होती है यह बात जब संसारमें प्रसिद्ध है तब अज्ञान स्वरूप देह आदि वा मिथ्याज्ञानस्वरूप गुरु आदिकी उपासनासे अज्ञानकी और ज्ञान स्वरूप आत्मासे सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति अवश्य होगी । जो पुरुष अपना कल्याण करना चाहते हैं उन्हे जिसमें स्वपर विवेक रूप ज्योति चमचमा रही है ऐसे परम पावन आत्माकी अवश्य उपासना करनी चाहिये । ज्ञानीकी उपासनासे ज्ञान ही फल प्राप्त होता है यह बात सर्वथा प्रमाणीक है । यथा—

ज्ञानमेव फलं ज्ञाने ननु श्लाघ्यमनश्वरं ।
अहो मोहस्य माहात्म्यमन्यदप्यत्र मृग्यते ॥ १ ॥

अर्थात् ज्ञानकी उपासनासे प्रशंसनीय और अविनाशी सम्यग्ज्ञानरूप फलकी प्राप्ति होती है यद्यपि ज्ञान प्राप्तिकेलिये ज्ञानीकी उपासना मोहसे होती है-ऐसी उपासनामें मोह करना पडता है तथापि इस प्रकारकी विलक्षण ही मोहकी महिमा आदरणीय गिनी जाती है। भावार्थ-धन आदिकी उपासनामें जो मोह कारण पडता है उस मोहसे ज्ञानकी प्राप्तिकेलिये ज्ञानीकी उपासनामें जो मोह कारण पडता है वह प्रशस्त माना जाता है। अतः अपने कल्याणकेलिये स्वपर विवेक शाली आत्माकी अवश्य ही उपासना करनी चाहिये॥

शंका—जो ज्ञानी निष्पन्नयोगी आत्मस्वरूपमें लीन है उसे आत्मध्यानसे क्या फल प्राप्त होना है? उत्तर—

परीषहाद्यविज्ञानादास्रवस्य निरोधिनी।
जायतेऽध्यात्मयोगेन कर्मणामाशु निर्जरा ॥२४॥

अर्थ—अध्यात्मयोगमें लीन होजानेपर परीषह आदि कष्टों का कुछ भी स्मरण नहीं रहता इसलिये उस अध्यात्मयोगीके समस्त कर्मोंके आस्रवको निषेध करनेवाली शीघ्र ही निर्जरा हो जाती है।

भावार्थ—जबतक मनुष्यका चित्त आत्म स्वरूपके चिंतवनमें लीन नहीं होता बाह्य पदार्थोंमें घूमा करता है तबतक भूंख प्यास आदि परीषहोंका उसे कष्ट बना रहता है भूंख और प्यासकी वेदनासे वह अधीर हो उठता है और

उससे हमेशा शुभाशुभ कर्मोंका संचय होता रहता है किंतु जिससमय बाह्य पदार्थोंकी वासनासे रहित हो चित्त अध्यात्म अभ्यासमें लीन होजाता है उससमय भूंख आदिकी कुछसी वेदना नहिं मालूम पडती, उससमय विलक्षण ही आनंदकी छटा हृदयमें छटकने लगती हैं और उस अध्यात्मध्यानसे कर्मोंकी निर्जराके साथ स्वस्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है। जैसा कि कहा है—

यस्य पुण्यं च पापं च निष्फलं गलति स्वयं।
स योगी तस्य निर्वाणं न तस्य पुनरास्रवः॥ १॥

अर्थात् जिस पवित्रात्मा योगीके पुण्य और पाप बिना फल दिये ही खिर जाते हैं उस योगीको स्वस्वरूपकी प्राप्ति होजाती है। वह परमात्मा हो जाता है और फिर उसके शुभाशुभ कर्मोंका आस्रव नहीं होता—उसे संसारमें नहीं घूमना पडता। और भी कहा है—

तथा ह्यचरमांगस्य ध्यानमभ्यस्यतः सदा।
निर्जरा संवरश्चास्य सकलाशुभकर्मणां॥ २॥

अर्थात् चरमशरीर—वज्रऋषभनाराच संहननसे अन्य संहननको धारण करनेवाला जो जीव ध्यानका अभ्यास करता है। आत्मस्वरूपके चिंतवनमें अपना मन लगाता है उसके समस्त अशुभ कर्मोंकी निर्जरा ( एकदेशरूपसे कर्मोंका खिरना) और संवर ( आते हुए कर्मोंका रुक जाना ) होता है और भी कहा है—

आत्मदेहांतरज्ञानजनिताह्लादनिर्वृतः।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुंजानोऽपि न खिद्यति ॥३॥

अर्थात्—आत्मा और शरीरके भेद विज्ञानसे उत्पन्न आ-ह्लाद स्वरूप आनंदका जिसने अनुभव करलिया है ऐसा पुरुष अनेक दुःखोंको भोगता हुआ भी तपसे खिन्न नहीं होता—परीषहोंके उपस्थित हो जानेपर उनके भयसे तपका परित्याग नहीं कर देता, तप करनेमें और भी धीर वीर हो जाता है। वास्तवमें जिससमय योगी सम्यग्दर्शन और स-म्यग्ज्ञान पूर्वक आत्माके स्वरूपका चिंतवन करता है उस अ-वस्थामें उसकी आत्माका स्वरूप ध्येय और ध्यान अवस्थाके सिवाय पर द्रव्यसे जरा भी संबंध नहीं रहता। परीषह आदि परद्रव्यके विकार हैं इसलिये उसे परीषह आदिकी पीड़ा जरा भी चंचल नही बनाती, उससमय धीरे धीरे सब कर्म खिरते चले जाते हैं। चार घातिया कर्मोंके सर्वथा नष्ट हो जाने पर उस योगीके तेरहवे गुणस्थानमें केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है और मुक्तात्माके समान अनुपम आनंदका अनु-भव करता हुआ वह अ इ उ ऋ ऌ इन पांच ह्रस्व अक्षरों-के उच्चारण करनेमें जितन काल लगता है उतना चौदहवे गुणस्थानमें रहकर, सर्वदाके लिये वह अविनाशी सुखका भोक्ता हो जाता है। कहा भी है

सीलेसिं संपत्तो णिरुद्धणिस्सेस आसवो जीवो।
कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि ॥ ४ ॥

अर्थात्–जिससमय यह जीव शील शिरोमणि बन जाता है उससमय इसके समस्त शुभ अशुभ कर्मोंका आस्रव रुक जाता है और कर्मरूपी रजसे रहित हो यह अयोगकेवली बन जाता है ॥ २४ ॥ अब ग्रंथकार ध्यान और ध्येय अवस्थामें आत्माके संयोगादिरूप संबंधका अभाव बतलाते हैं।

कटस्य कर्ताहमिति संबंधः स्याद्द्वयोर्द्वयोः।
ध्यानं ध्येयं यदात्मैव संबंधः कीदृशस्तदा ॥२५॥

अर्थ–चटाई और चटाईका बनानेवाला दोनों आपसमें भिन्न हैं इसलिये उन दोनोंका आपसमें संयोग आदि संबंध बन सकता है और उस संबंधके अभावसे वे जुदे जुदे हो जाते हैं किंतु जब ध्यान स्वरूप और ध्येय स्वरूप आत्मा ही है, आत्मासे भिन्न पदार्थ नहीं है तब उनका संयोग आदि संबंध जो आपसमें जुदाईका कारण संबंध गिना जाता है वह नहीं बन सकता इसलिये ध्यान और ध्येय अवस्थामें परद्रव्यसे आत्माका कोई संबंध नहीं।

भावार्थ–"ध्यायते येन तद्ध्यानं, यो ध्यायति स एव वा" जिसका ध्यान किया जाता है वह पदार्थ और जो ध्यान करता है वह पदार्थ दोनों ही एक हैं। जिस समय इस आत्माका ध्यान अवस्थामें परमात्मा 'निजस्वरूप'के साथ एकीकरण होजाता है उससमय चिन्मात्र पिंडके सिवाय अन्य किसी भी परद्रव्यका संयोगरूप संबंध नहीं बनता।

किंतु उस अवस्थामें कर्म आदिका जो भी संयोग संबंध रहता है वह नष्ट होजाता है। इसलिये जब यह बात है कि ध्यान और ध्येय अवस्थामें अन्य कोई संयोगादिसंबंध नही बनसकता तब उस अवस्थामें योगीको परीषह आदि पर द्रव्यके विकार, कभी कष्ट नहीं पहुंचा सकते ॥ २५ ॥

शंका–भेद जो होता है वह संयोग पूर्वक होता है बिना संयोगके भेदकी कल्पना नहीं हो सकती। ध्यानसे जब आत्मा और कर्मोंकी जुदाई होती है तब किस कारणसे तो उनका संयोग होता है और किस कारणसे उनका भेद होता है ? उत्तर—

बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिंतयेत्॥ २६॥

अर्थ—ममत्व परिणामसे जीवके कर्मबंध होता है और ममत्वके अभावसे मोक्ष होती है इसलिये विद्वानोंका कर्तव्य है कि वे जिसतरह बने उसतरह निर्ममत्वका ही चिंतवन करें।

भावार्थ–स्त्री पुत्र धन धान्य आदि पदार्थ मेरे हैं और मैं उनका हूं जिस समय मोहसे मूढ हो जीवके ऐसे परिणाम होजाते हैं उससमय इसके अनेक शुभाशुभ कर्मोंका बंध होता रहता है। कहा भी है–

न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मकं कर्म वा
न चापि करणानि वा न चिदचिद्वधो बंधकृत्।

यदैक्यमुपयोगभूः समुपयाति रागादिभिः
स एव किल केवलं भवति बंधहेतुर्नृणां ॥ १ ॥

अर्थात् जीवके जो शुभाशुभ कर्मोंका बंध होता है उसमें कार्माण जातिकी वर्गणाओंसे खचाखच भरा हुआ न तो यह लोक कारण है, न चलनस्वरूप कर्म कारण है, न इंद्रियां कारण हैं और न चेतन अचेतन पदार्थोंका वंध कारण है किंतु जिससमय इस आत्माका उपयोग राग द्वेष आदि के साथ एकीकरण करलेता है। इष्ट और अनिष्ट पदार्थोंमें जिससमय राग और द्वेषकी सत्ता इसकी आत्मामें स्थान पा लेती है वही निश्चयसे बंधमें कारण है। यह मेरा है, और यह पराया है तथा मैं इसका हूं जिससमय इस प्रकार के राग द्वेष रूप परिणाम हो जाते हैं उससमय सदा शुभ अशुभ कर्मोंका बंध होता रहता है किंतु जिससमय ये परिणाम नहीं होते, स्त्री पुत्र आदि कोई मेरे नहीं और न मैं इनका हूं इसप्रकार निर्ममत्वकी भावना हृदयमें चमचमा निकलती है उस समय शुभ अशुभ कर्मोंका बंध नहीं होता। कहा भी है—

अकिंचनोऽहमित्यास्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः ॥ १ ॥

अर्थात्—जिससमय आत्मामें यह अविचल भाव हो निकलता है कि मैं अकिंचन हूं—स्त्री पुत्र आदि जो भी संसारमें पदार्थ दीख पडते हैं उनमें मेरा कोई नहीं उससमय

यह आत्मा तीन लोकका अधिपति बन जाता है-परमात्मा कहा जाता है परंतु इस प्रकारका यह परमात्माका रहस्य-परमात्मा बना देनेवाला रहस्य योगियोंके ही गम्य है-अकिंचन स्वरूप भाव सिवा योगीके अन्य कोई पा नहीं सकता। और भी कहा है-

रागी बध्नाति कर्माणि वीतरागी विमुंचति।

जीवो जिनोपदेशोऽयं संक्षेपाद्बन्धमोक्षयोः॥ ३॥

अर्थात्-जो पुरुष रागी है। धन धान्य आदि पदार्थ मेरे हैं इस प्रकारसे राग करनेवाला है उसके शुभ अशुभ कर्मोंका बंध होता है किंतु जो वीतरागी है स्त्री पुत्र आदिको अपना मानना दुःखका कारण समझता है उसके कर्मबंध नहीं होता। वह परमात्मा बनजाता है, यह संक्षेपसे बन्ध मोक्षका व्याख्यान जिनेंद्रकी आज्ञानुसार है॥ २६॥

शंका-तब इस प्रकारके अनुपम आनन्द प्रदान करनेवाले निर्ममत्वके चिंतवनका क्या उपाय है? उत्तर-

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगींद्रगोचरः।

बाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा॥२७॥

अर्थ-मैं अकेला हूं, ममत्व रहित हूं, शुद्ध हूं, ज्ञानी हूं, और योगियोंके ज्ञानका विषय हूं। तथा संयोगजद्रव्य-कर्मसे होनेवाले भाव मुझसे सर्वथा बाह्य हैं, अंश मात्र भी मेरे नहीं।

भावार्थ—यद्यपि पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा मेरे अनेक भेद होजाते हैं तो भी द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा मैं अकेला हूं, निर्मल हूं, यह मेरा और मैं इसका इसप्रकारके विकारसे रहित हूं, शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा द्रव्य और भावकर्मोंसे सर्वथा भिन्न होनेके कारण मैं शुद्ध हूं, स्वपर प्रकाशन स्वभावका धारक ज्ञानी हूं, तथा केवलीका केवल ज्ञान अनन्त पर्यायोंको जानता है अतः स्पष्ट रूपसे उसका विषय और श्रुतकेवलीका ज्ञान भी मुझे शुद्धोपयोग स्वरूप जानता है इसलिये उसका भी विषय होनेके कारण मैं योगीश्वरोंके ज्ञानका विषय हूं किंतु अनादि कालसे कर्मके संबंधसे होनेवाले शरीर आदि पदार्थ कर्मोंके विकार हैं मेरे शुद्ध चैतन्य स्वरूपसे भिन्न हैं इसलिये मुझसे वाह्य हैं—मेरे नहीं इस प्रकारकी भावनासे निर्ममत्वकी प्राप्ति होती है ॥ २७ ॥

शंका—देहादिके संबंधसे आत्माको क्या फल भोगना पड़ता है । उत्तर—

दुःखसंदोहभागित्वं संयोगादिह देहिनां ।
त्यजाम्येनं ततः सर्वं मनोवाक्कायकर्मभिः ॥ २८ ॥

अर्थ—जीवोंको कर्मके संबंधसे प्राप्त शरीरादिसे अनेक कष्ट भोगने पड़ते हैं इसलिये मन वचन कायकी क्रियासे शरीर आदिका त्याग ही करना उत्तम है ।

भावार्थ—आत्मा और शरीर आदिके भेद भावसे सुखकी

प्राप्ति होती है और इनके अभेद भावसे—इनको अपना मान-नेसे अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं इसलिये मन वचन कायकी क्रियासे इनको अपना न मानना ही ठीक है। कहा भी है—

" स्वबुद्ध्या यत्तु गृह्णीयात्कायवाक्चेतसां त्रयं।
संसारस्तावदेतेषां भेदाभ्यासेन निर्वृतिः ॥ १ ॥

अर्थात्—शरीर वाणी और मनको जब तक अपना माना जाता है अर्थात् इनकी क्रियासे शरीर धन धान्यको अपनाया जाता है तबतक सदा संसारमें घूमना पड़ता है किंतु जिससमय आत्मामें यह अभ्यास होने लगता है कि शरीर आदि मुझसे भिन्न हैं किसी हालतमें ये मेरे नहीं हो सकते उस समय कर्मोंका बंध नहीं होता, मोक्षकी प्राप्ति होजाती है इसलिये शरीर आदिको कभी अपना न मानना चाहिये ॥

शंका—देहादि स्वरूप पुद्गल द्रव्यसे अनादिकालसे आत्माका संबंध है उसीके कारण जन्म मरण आदि होते हैं और उनसे अनेक प्रकारके क्लेश सहने पड़ते हैं यह दुःख किस भावनाके भावनेसे दूर होगा ? उत्तर—

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा।
नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले ॥ २९ ॥

अर्थ— मेरा मरण नहीं इसलिये मुझे डर नहीं, मुझे व्याधि नहीं हो सकती इसलिये मुझे कोई दुःख भी नहीं, मैं बालक वृद्ध और जवान भी नहीं क्योंकि ये सब विकार पुद्गलके हैं।

भावार्थ— मैं चिदानंद चैतन्य स्वरूप हूं। ज्ञान दर्शन आदि चैतन्य स्वरूप परिणामों का कभी नाश नहीं हो सकता इसलिये मेरा कभी मरण नहीं हो सकता अतः सर्प सिंह आदि मुझे खा जायंगे वा तलवार आदिसे मेरा वध हो जायगा मुझे कभी इस बातका भय नहीं करना चाहिये तथा वात पित्त आदिके कुपित होजानेपर ज्वर आदि जो भी व्याधियां हैं मूर्तीक हैं इसलिये वे मूर्तीक पुद्गलस्वरूप शरीरमें ही हो सकती हैं मेरा आत्मा अमूर्त चैतन्य स्वरूप है उसमें कभी कोई व्याधि नहीं हो सकती इसलिये मुझे व्याधिजन्य दुःखसे कभी भी दुःखित न होना चाहिये। तथा बालक वृद्ध और युवा ये अवस्था भी मूर्तीक पुद्गलमें होती हैं मेरी आत्माकी इनमें कोई अवस्था नहीं हो सकती इसलिये इन अवस्थाओंमें जो भी दुःख होते हैं मुझे उनसे दुखी न होना चाहिये किंतु मुझे अपने चिदानंद चैतन्य स्वरूपमें ही मग्न रहना चाहिये इत्यादि भावनाओंके भानेसे जन्म मरण आदिक दुःख दूर हो जाते हैं॥

शरीर और आत्मामें अभेद बुद्धि रखनेपर भयादिक होते हैं। जब इनको अपना अहितकारी समझ इनका सर्वथा परित्याग कर दिया तब ये मुझे कभी संताप नहीं दे सकते इस बातका ग्रंथकार उपदेश देते हैं—

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा ॥३०॥

अर्थ– मोहनीय कर्मके जालमें फसकर अनेकबार श-रीर आदि स्वरूप पुद्गलोंका मैंने भोग किया है और फिर छोड दिया है अब मैं विचार शील हूं– शरीर आदिके स्व-रूपका भले प्रकार जानकार हूं इसलिये उच्छिष्ट पदार्थोंके समान अब मेरी इनके भोगनेमें इच्छा नहीं हो सकती ।

भावार्थ— जो पुरुष लाडू आदि अछूते पदार्थोंका खानेवाला है उसकी जिसप्रकार उच्छिष्ट पदार्थोंके खाने में अभिलाषा नहीं होती वह उच्छिष्ट पदार्थोंको घृणाकी दृष्टिसे देखता है उसीप्रकार जिस मनुष्यने शरीर आदि पदार्थोंको अनेकबार भोगकर छोड दिया है वह पुरुष वि-चार बुद्धिके विकसित हो जानेपर उनको उच्छिष्ट मानता है फिर उनके भोगनेमें नहीं लगता ॥ ३० ॥

शंका— शरीर आदि कर्मोंका बंध जीवके कैसे हो जाता है ? उत्तर—

कर्म कर्महितावंधि जीवो जीवहितस्पृहः ।
स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे स्वार्थं को वा न वांछति ॥ ३१ ॥

अर्थ– अपने अपने प्रभावके बलवान होनेपर कर्म तो अपने अंगस्वरूप कर्मका हित करता है और जीव जीवका ( अपना ) हित करता है। ठीक भी है अपने अपने स्वार्थको सभी चाहते हैं।

भावार्थ– यह एक स्वभाविक वात है कि जो बलवान

होता है वही अपनी ओर खींच लेता है अवसर पाकर कभी तो कर्म बलवान हो जाता है और कभी जीव भी बलवान हो जाता है। कहा भी है--

कत्थवि बलिओ जीवो कत्थवि कम्माइ होंति बलियाइं।
जीवस्स य कम्मस्स य पुव्वविरुद्धाइ वइराइं॥ १॥

अर्थात् कभी तो जीव बलवान हो जाता है और कभी कर्म बलवान हो जाते हैं इस प्रकार जीव और कर्मके परस्पर विरुद्धता है, इसलिये जिससमय कर्म बलवान हो जाता है उससमय वह कर्मोंका उपकार करता है अर्थात् जीवके औदयिक आदि भावोंकी उत्पत्तिकर नवीन नवीन कर्मोंको उपार्जन कराकर अपने अंगभूत कर्मोंका पोषण करता है। जैसा कि कहा है—

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमंतेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन॥ १॥
परिणममानस्य चिदश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि॥ २॥

अर्थात्– जीवद्वारा किये गये राग द्वेष आदि परिणामोंके निमित्तसे अन्य पुद्गल स्वयं ही कर्मरूप परिणत हो जाते हैं। उसी प्रकार परिणमनशील जीवके स्वयं होने वाले जो राग द्वेषरूप परिणाम हैं, उनमें पुद्गल कर्म निमित्त पड़जाता है। तथा जिससमय जीव बलवान हो जाता है

उस समय वह भी कर्मोंके नाशके साथ अनंत सुख स्वरूप मोक्षकी इच्छा करता है। वह भी अपना हित करनेमें नहीं चूकता। इसलिये यही समझना चाहिये कि कर्मसे आविष्ट जीव ही कर्मोंका संचय करता है कर्म रहित नहीं॥ ३१॥

इसी बातको ग्रंथकार और भी स्पष्ट करते हैं—

परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव।
उपकुर्वन् परस्याज्ञो दृश्यमानस्य लोकवत् ॥३२॥

अर्थ– हे आत्मन्! तू लोकके समान मूढ नश्वर दृश्यमान शरीर आदि पदार्थोंका उपकार कर रहा है यह तेरा अज्ञान है। अब तू परके उपकारकी इच्छा न कर अपने ही उपकारमें लीन हो।

भावार्थ– जिसप्रकार मूढ लोक दूसरेको दूसरा न समझकर रात दिन उसकी भलाईमें लगा रहता है उसकी भलाई करनेमें अपनी कितनी भी हानि क्यों न होवे उसकी कुछ भी पर्वाह नहीं करता किंतु जिससमय उसको यह ज्ञान हो जाता है कि यह मेरा नहीं, मुझसे भिन्न है उसका उपकार करना छोड देता है और जिसतरह बनता है उसतरह अपना ही उपकार करता है उसीप्रकार हे आत्मन्! अज्ञान अवस्थामें तेरे स्वभावसे सर्वथा विरुद्ध शरीर आदि पदार्थोंके होते हुए भी तू उनके पालन पोषणमें सदा लगा रहा है और सदा उन्हें अपना मानता रहा है अब उ-

नमें अपनी निजत्व बुद्धि छोड दे और अपना हित संपादन कर। इसीमें तेरा कल्याण होगा॥ ३२॥

और भी ग्रन्थकार उपदेश देते हैं—

गुरूपदेशादभ्यासात्संवित्तेः स्वपरांतरं।
जानाति यः स जानाति मोक्षसौख्यं निरंतरं॥३३॥

अर्थ—गुरुके उपदेशसे शास्त्राभ्यास और शास्त्राभ्यास से पदार्थोंके स्वरूपका ज्ञान होता है एवं उससे स्वपरका भेद मालूम पडता है जिसको इस वातका ज्ञान है उसे ही मोक्ष सुखका ज्ञान होता है।

भावार्थ— यह स्व— अपना है और यह दूसरा है इस वातका ज्ञान स्व परके लक्षणोंके जाननेसे होता है। मेरा यह स्वरूप है और दूसरेका यह स्वरूप है जबतक यह ज्ञान नहीं होता तब तक कभी स्व पररूपका भेद नहीं मालूम पड सकता। तथा इस प्रकारसे स्वरूपका ज्ञान शास्त्राभ्यास से होता है और वैसा शास्त्राभ्यास गुरुके उपदेशसे होता है इसलिये जो पुरुष गुरुके उपदेशसे शास्त्राभ्यास करते हैं और उसकी कृपासे स्व और परके लक्षण पहिचानकर स्व परका भेद जानते हैं वेही मोक्ष स्वरूपके जाननेके अधिकारी हैं क्योंकि कर्म रहित आत्माके ध्यानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। कहा भी है—

तमेवानुभवंश्चायमैकाग्र्यं परमृच्छति।
तथात्माधीनमानंदमेति वाचामगोचरं॥ १॥

अर्थात्—उस कर्मविमुक्त आत्माके ध्यानसे परम एकाग्रताकी प्राप्ति होती है और वचनके अगोचर जो कोई आत्माधीन आनंद है वह भी प्राप्त होजाता है इसलिये मोक्ष प्राप्तिकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको अवश्य स्वपरका विवेक प्राप्त करना चाहिये॥ ३३॥ शंका-मोक्षमार्गका निर्दोष रूपसे अनुभव करनेवाला गुरु कौन है? उत्तर—

स्वस्मिन् सदाभिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वत:।
स्वयं हितप्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मन:॥३४॥

अर्थ—आत्माका गुरु वास्तवमें आत्मा ही है क्योंकि वही अपनेमें मुझे 'मोक्ष सुख मिले' इस अभिलाषासे मोक्ष सुखकी अभिलाषा करता है। अपनेमें ही 'मुझे अभीष्ट मोक्षसुखका ज्ञान करना चाहिये' इसरूपसे मोक्ष सुखका बोध करता है और मोक्ष सुख ही परम हितकारी है इस रूपसे उसकी प्राप्तिमें अपनेको लगाता है।

भावार्थ—जो आत्माको हितकारी उपदेश दे और उसके अज्ञानको दूर करे उसीका नाम गुरु है। यद्यपि ऐसे गुरु अन्य भी व्यक्ति हो सकते हैं परंतु वे कहने मात्रके होते हैं, वे वैसा करा नहीं सकते। असली गुरु तो आत्मा ही है क्योंकि 'मोक्ष मुझे प्राप्त हो जाय' इसप्रकारकी प्रशस्त अभि-

लाषा उसीमें होती है। उसको यह ज्ञान रहता है कि सं-सारमें सबसे अभीष्ट पदार्थ मोक्षसुख है और वही इस प्र-कार अपनी आत्माकी निंदा कर कि 'रे दुरात्मा! तूने आ-जतक कभी मोक्षसुखकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न नहिं किया सदा विषय भागोंमें ही मग्न रहा है।' परम हितकारी मोक्ष सुखकी प्राप्तिमें अपनेको लगाता है। इसलिये सबसे उत्तम क-ल्याणकारी गुरु अपने आत्माको ही मानना चाहिये ॥ ३४ ॥ शंका—यदि आत्माका गुरु आत्मा ही है अन्य नहीं तब शास्त्रों में जो यह उपदेश है कि आचार्य आदि गुरु हैं उनकी सेवा करनी चाहिये, वह सब व्यर्थ है। उत्तर—

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत्॥ ३५॥

अर्थ—जो पुरुष अज्ञानी है वह परके निमित्तसे विशेष ज्ञानी नहीं हो सकता और जो विशेष ज्ञानी है वह अज्ञानी नहीं हो सकता इसलिये जिसप्रकार जीव पुद्गलोंके गमनमें धर्मास्तिकाय निमित्त कारण है उसी प्रकार अन्य मनुष्यके ज्ञानी वा अज्ञानी करनेमें गुरु आदि निमित्त कारण हैं।

भावार्थ—पदार्थमें जो शक्ति होती है वह उसीसे कार्य कर सकता है अन्य पदार्थ तो उसके कार्य करनेमें निमित्त कारण मात्र पड जाता है। जीव और पुद्गल द्रव्यमें गमन करनेकी स्वयं शक्ति है इसलिये वे जिस समय गमन करते हैं

धर्मद्रव्य उनके गमनमें सहकारी कारण पड जाता है किंतु यदि उनमें गमन करनेकी शक्ति न हो तो एक नहीं हजार धर्म द्रव्य सरीखे सहकारी कारण पड जांय, कभी जीव और पुद्गल गमन नहीं कर सकते उसीप्रकार आत्माकी भी दशा है। यदि यह आत्मा तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके अयोग्य अभव्यादि स्वरूप अज्ञानी रहता है उससमय एक धर्माचार्यका उपदेश क्या हजारों धर्माचार्योंके उपदेश क्यों न प्राप्त होवें, कभी यह तत्त्वज्ञानी नहीं हो सकता। कहा भी है—

स्वाभाविकं हि निष्पत्तौ क्रियागुणमपेक्षते।
न व्यापारशतेनापि शुकवत्पाठ्यते बकः॥ १॥

अर्थात्—सैकडों प्रयत्न किये जांय तो भी बगला तोतेके समान पढ नहीं सकता उसीप्रकार यदि स्वाभाविक चीज नहीं है तो हजार प्रयत्न किये जांय तो भी वह पैदा नहीं हो सकती क्योंकि स्वाभाविक चीजकी मौजूदगीमें ही प्रयत्न करनेपर वह प्रगट हो सकती है। जब अज्ञानीमें ज्ञानप्राप्तिकी योग्यता ही नहीं तब उसे कितना भी उपदेश दिया जाय तत्त्वज्ञान उसे नहीं प्राप्त हो सकता तथा जो पुरुष ज्ञानवान है तत्त्वज्ञानका पात्र है उसकेलिये तत्त्वज्ञानसे चिगानेके लिये हजारों उपाय क्यों न किये जांय वह तत्त्वज्ञानसे चिग नहीं सकता। कहा भी है—

वज्रे पतत्यपि भयद्रुतविश्वलोके
मुक्ताध्वनि प्रशमिनो न चलंति योगात्॥

बोधप्रदीपहतमोहमहांधकाराः
सम्यग्दृशः किमुत शेषपरीषहेषु ॥

जो योगीगण सम्यग्ज्ञानरूपी जाज्वल्यमान दीपकसे मोहरूपी प्रबल अंधकारका नाश करनेवाले हैं और सम्यग्दृष्टि हैं वे शांतस्वभावी योगीगण जिसके भयानक शब्दसे पथिकोंने मार्ग छोड दिया है और समस्त लोक भयसे थर थर कांपने लगता है ऐसे वज्रके गिरने पर भी अपनी परम पवित्र समाधिसे जराभी चलायमान नहीं होते । इसलिये यह बात निश्चित होचुकी कि ज्ञानी और अज्ञानी बननेकी सामर्थ्य आत्मामें ही है और गुरु आदि तो निमित्त कारण हैं जबर्दस्ती वे किसीको ज्ञानी अज्ञानी नहीं बना सकते । हां ! निमित्त कारणके विना भी कार्य नहीं होता इसलिये ज्ञानप्राप्तिमें निमित्त कारण गुरुओंकी शुश्रूषाका परित्याग न कर देना चाहिये । उनकी परमभक्ति रखनी ही चाहिये ॥ ३५ ॥

शंका– अभ्यासका उपाय क्या है ? उत्तर–

अभवच्चित्तविक्षेप एकांते तत्त्वसंस्थितिः ।
अभ्यस्येदभियोगेन योगी तत्त्वं निजात्मनः ॥ ३६ ॥

अर्थ—जिसके चित्तमें किसीप्रकारका विक्षेप न हो जिसकी बुद्धि एकांतमें बैठनेके कारण हेय और उपादेय स्वरूप पदार्थोंके विचारमें निश्चल हो, ऐसे योगीको चाहिये

कि वह आलस्य और निद्रा आदिके परित्याग पूर्वक अपनी आत्माके स्वरूपका अभ्यास करे।

भावार्थ—जबतक चित्तमें किसी प्रकारका विक्षेप रहेगा तबतक आकुलताके कारण कभी आत्माके स्वरूपका ध्यान नहीं हो सकता इसलिये सबसे पहिले योगीको अपना चित्त शांत रखना चाहिये। चित्तके विक्षेपका निरोध एकांतवाससे ही हो सकता है इसलिये योगीको जनसमुदायमें न रह कर एकांतमें रहना चाहिये। तथा यह पदार्थ त्यागने योग्य है और यह पदार्थ ग्रहण करने योग्य है जबतक इसबातका ज्ञान न होगा तबतक भी आत्माके स्वरूपका अभ्यास नहीं हो सकता इसलिये स्वपर विवेक रखना भी आत्मस्वरूपके अभ्यासी योगीको परमावश्यक है ॥ ३६ ॥ शंका—स्वपर विवेकरूप संवित्ति योगीके है यह बात कैसे जानी जा सकती है? उत्तर—

यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमं।
तथा तथा न रोचंते विषया सुलभा अपि॥ ३७॥

अर्थ—संवित्ति-स्वपर पदार्थोंके भेदविज्ञानसे जैसा जैसा आत्माका स्वरूप विकसित होता जाता है वैसे ही वैसे सुलभ भी विषयोंसे प्रीति हटती जाती है।

भावार्थ—जबतक आत्माको अपने स्वरूपका ज्ञान नहीं होता तबतक वह विषयोंको ही प्यारा मानता है और उनसे

जायमान सुखको ही परम सुख मानता है किंतु जिससमय आत्माको अपना स्वरूप मालूम पडता चला जाता है उस समय उसको वही परम आनन्द जान पडने लगता है और विषय सुख जो परिणाममें दुखहीके देनेवाले हैं उनसे सर्वथा विमुखता हो जाती है। लोकमें भी यह बात प्रसिद्ध है जो कारण प्रचुर सुखका उत्पादक होता है उसीको लोग अपनाते हैं और जिससे थोडा सुख मिलता है उसको छोड देते हैं। मुनिगण इस बातको अच्छीतरह जानते हैं कि विषयभोग अल्पसुखके कारण हैं और आत्मस्वरूपका चितवन परम सुखस्वरूप मोक्षका कारण होता है इसलिये वे स्वपर विवेकस्वरूप आत्मस्वरूपके चिंतवनमें ही लौ लगाते हैं। मुनिगण काममोगोंको कैसा समझते हैं यह अन्यत्र भी कहा है, यथा—

> शमसुखशीलितमनसामशनमपि द्वेषमेति किमु कामाः।
> स्थलमपि दहति झषाणां किमंग पुनरंगमंगाराः॥ १॥

अर्थात्– जिसप्रकार सूखी जमीन भी मछलियोंकेलिये जब प्राणनाशक होती है तब अग्निकी तो बात ही क्या है अर्थात् अग्निसे जरूर ही मछलियां मर जाती हैं उसीप्रकार जिनका चित्त समतारूपी सुखसे परिपूर्ण है वे मुनिगण जब शरीरकी स्थितिके कारण भोजनका भी परित्याग कर देते हैं तब काम भोगोंको वे कैसे अच्छा मान सकते हैं ? अर्थात् काम भोगोंको सर्वथा हेय समझ-

कर योगियोंकी कभी उनमें प्रवृत्ति नहीं होगी। इसलिये यह बात सर्वथा युक्त है कि योगीको अपनी आत्माके स्वरूपका ज्ञान है, इसबातको जतलानेवाली योगीकी विषयोंमें अरुचि ही है– जिसयोगीकी जितनी विषयोंमें अरुचि होगी वह उतना ही अधिक आत्मस्वरूपका ज्ञाता होगा॥ ३७॥

जैसी जैसी विषयोंमें अरुचि बढ़ती जाती है वैसी ही वैसी स्वात्मसंवित्ति– स्वपर विवेक भी बढ़ता चला जाता है, इस बातको ग्रंथकार समझाते हैं—

यथा यथा न रोचंते विषयाः सुलभा अपि।
तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमं॥ ३८॥

अर्थ—जैसी जैसी सुलभ भोगोंसे रुचि घटती जाती है वैसे ही वैसे स्वपरसंवित्तिसे विशुद्ध आत्माका स्वरूप उदित होता चला जाता है।

भावार्थ—ऊपर कह दिया गया है कि आत्माके विशुद्ध स्वरूपकी उपलब्धिमें विषयोंकी अरुचि कारण है, विषयोंकी अरुचिसे ही विशुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति होती है। कहा भी है–

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकं।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किंचोपलब्धिः॥ ३४॥

(समयसार कलश)

अर्थात्–आत्मन्! यह जो तू विना कामका व्यर्थ कोलाहल मचा रहा है वह तेरा व्यर्थ है उससे तू शीघ्र विरक्त हो। आत्मस्वरूपमें लीन होकर छैमास पर्यंत तू इस चैतन्य स्वरूप आत्माको देख। पुद्गलसे भिन्न कांतिके धारक इस आत्माकी तेरे हृदयसरोवरमें प्राप्ति होती है या नहीं। इसलिये जो पुरुष विशुद्ध आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके अभिलाषी हैं उन्हें चाहिये कि वे विषयभोगोंको सर्वथा हेय समझें, कभी भी उनमें रुचि न करें॥ ३८॥

शंका— स्वात्मसंविचिके प्रकृष्ट होजानेपर किन किन चिन्होंकी प्रगटता होती है? उत्तर—

निशामयति निश्शेषमिंद्रजालोपमं जगत्।
स्पृहयत्यात्मलाभाय गत्वान्यत्रानुतप्यते॥ ३९॥

अर्थ–इस समस्त जगतको वे इन्द्रजालके समान देखते हैं। आत्मस्वरूपकी प्राप्तिकेलिये उनकी इच्छा कहलहा उठती है और जिससमय किसी कारणसे आत्मस्वरूपसे भिन्न किसी पदार्थमें उनकी प्रवृत्ति हो जाती है तो उन्हें अत्यंत संताप होने लगता है।

भावार्थ—जबतक आत्माको अपने असली स्वरूपका ज्ञान नहीं होता तबतक वह स्त्री पुत्र आदि समस्त पदार्थों को अपने सुखका कारण मानता है और विषयोंसे जायमान सुखको ही परम सुख मान बैठता है, आत्माके असली

स्वरूपकी प्राप्तिकेलिये कभी प्रयत्न नहीं करता और न आत्मस्वरूपसे अतिरिक्त विषयभोगोंमें प्रवृत्ति होजानेसे किसी प्रकारका पश्चात्ताप करता है परंतु जिससमय उसे स्वात्म-संवित्ति—स्व और परका विवेक होजाता है उससमय जगतका समस्त ख्याल इसे इंद्रजालके ख्यालके समान जान पड़ने लगता है अर्थात् जिसप्रकार इंद्रजालमें सब झूंठी माया होती है उसी प्रकार स्त्री पुत्र आदिकी मायाको वह झूंठी अत एव हेय समझने लगता है। उससमय सिवाय आत्म-स्वरूपकी प्राप्तिके और किसी चीजकी प्राप्तिकी इच्छा नहीं होती और पूर्वजन्मके संस्कारसे अथवा अन्य किसी कारण से विषय आदिमें उसकी प्रवृत्ति भी हो जाती है तो उस से उसे बड़ा ही क्लेश होता है ॥ ३९ ॥ और भी स्वात्मसं-वित्तिका फल बतलाते हैं—

इच्छत्येकांतसंवासं निर्जनं जनितादरः ।
निजकार्यवशात्किंचिदुक्त्वा विस्मरति द्रुतं ॥ ४० ॥

अर्थ—स्वात्मसंवित्तिके जाग्रत हो जानेपर यह आत्मा बड़े आदरसे किसीप्रकारसे मनुष्योंका संचार न हो ऐसे एकांत स्थानोंमें रहनेकी इच्छा करने लगता है और विशेष प्रयो-जनसे कुछ बोलनेपर भी शीघ्र ही उसे भूल जाता है।

भावार्थ—जबतक आत्माको यह ज्ञान नहीं होता कि जीने मर-नेवाला और नरक दुःख मोक्ष सुखका भोक्ता अकेला मैं ही हूं

स्त्री पुत्र आदि जन्मके साथी हैं कर्मके नहीं। मेरे ऊपर आई हुई विपत्तियोंसे वे जरा भी भाग नहीं बटा सकते। तबतक वह स्त्री पुत्र आदिको अपनी रक्षाका कारण मानता है और उनका संग छोडकर एकांत स्थानमें रहनेकेलिये भय करता है किंतु जिससमय इसे स्वपर विवेक होजाता है, मैं अकेला ही हूं अन्य कोई भी मेरा नहीं, जिससमय यह भावना हृदयमें होने लगती है उससमय स्त्री पुत्र आदिके साथ रहना इसे दुःखदायी जान पडने लगता है। वडे आनन्दके साथ वह पर्वतकी गुफा आदि ऐसे स्थान जहांपर जरा भी मनुष्योंके संचारकी गम्य नही वहां आनन्दपूर्वक रहनेकी अभिलाषा करने लगता है। तथा भोजन आदिकी पराधीनतासे कुछ समय श्रावकोंको उपदेश देनेके लिये प्रयत्न करता है किंतु आत्मस्वरूपमें विशेष लीनता होनेके कारण तत्काल उसे भूल जाता है। अपने आत्मस्वरूपमें ज्योंका त्यों फिर लीन हो जाता है और आत्मध्यानसे होनेवाले चमत्कारोंको हासिल कर लेता है। ध्यानका फल अन्यत्र भी इसीप्रकार कहा है–

> गुरूपदेशमासाद्य समभ्यस्यन्ननारतं।
> धारणासौष्ठवध्यानप्रत्ययानपि पश्यति ॥ १ ॥

अर्थात्– गुरुके उपदेशके अनुसार सदा आत्मस्वरूप का अभ्यास करनेवाला योगी धारणा सौष्ठव आदि ध्यान के प्रत्ययोंको साक्षात् प्रत्यक्ष करने लगता है। सार यह है कि योगीकी आत्माके स्वरूपके चिंतवनमें जिससमय एका-

ग्रंता हो जाती है उससमय उसे जगतका कोई पदार्थ अच्छा नही लगता; आत्मिक आनन्दमें ही वह चूर बना रहता है ॥४०॥ और भी आत्मध्यानका कार्य बतलाते हैं—

ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते गच्छन्नपि न गच्छति।
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु पश्यन्नपि न पश्यति ॥४१॥

अर्थ— जिस पवित्रात्मा योगीकी आत्मस्वरूपके चिंतवनमें स्थिरता होगई है वह बोलता हुआ भी नहीं बोलता हुआ सरीखा है, जाता हुआ भी नहीं जाता हुआ सरीखा है और देखता हुआ भी नहीं देखता हुआ सरीखा है।

भावार्थ— विशुद्ध आत्मस्वरूपके चिंतवनमें जिससमय योगीका चित्त लीन हो जाता है उस समय उसके चित्तकी प्रवृत्ति उसीमें लीन हो जाती है, अन्य कुछ भी चीज उसे अच्छी नहीं लगती इसलिये उससमय वह श्रावक आदिके उपरोध—आग्रहसे उपदेश आदि देता हुआ भी उस कार्यमें मुख्यता न होनेके कारण न देता हुआही सा है। कहा भी है—

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरं।
कुर्यादर्थवशात्किंचिद्वाक्कायाभ्यासतत्परः॥

अर्थात्—बोलनेका और शरीरसे कार्य करनेका अभ्यास पड़ा हुआ है इसलिये योगी, श्रावक आदिके निमित्तसे या अन्य किसी प्रयोजनसे उपदेश आदिके समय बोलता

था भोजनादिके लिये जाना आदि प्रवृत्ति करता है तथापि स्व-स्वरूपके ज्ञानमें विशेष लीनता होनेपर स्वस्वरूपके अभ्यास रूप कार्यमें ही वह लीन बना रहता है। स्वस्वरूपके अभ्या-ससे अन्य जो भी कार्य हैं वे बहुत कम उसकी बुद्धिमें ठ-हरते हैं, हेय समझ उनकी ओर वह लौ नहीं लगाता। तथा आत्मस्वरूपके अभ्यासमें विशेष लीनता होनेके कारण वह भोजनादि केलिये जाता हुआ भी नहीं जाता सरीखा है, और किसी पदार्थको देखता है तथापि उसे नहीं देखता सरीखा है। सार यह है कि स्वस्वरूपके अभ्याससे योगीको जो आनंद प्राप्त होता है वह अन्य किसी भी कार्यमें नहीं इसलिये अन्य कार्योंके करनेकी उसे जरा भी उत्सुकता नहीं रहती।

और भी ग्रंथकार कहते हैं—

किमिदं कीदृशं कस्य कस्मात्क्वेत्यविशेषयन्।
स्वदेहमपि नावैति योगी योगपरायणः॥ ४२ ॥

अर्थ— योगमें लीन हुआ योगी अनुभवमें आनेवाला तत्त्व क्या है? कैसा है? कौन उसका स्वामी है किससे उ-दित और कहांपर मोजूद है? इसप्रकारके भेदभावका कुछ भी ख्याल न कर अपने शरीरको भी नहीं जानता।

भावार्थ—स्वस्वरूपके ध्यान करनेवाले भी योगीकेज-बतक यह भेदविज्ञान बना रहता है कि मैं जिस तत्त्वका

अनुभव कर रहा हूं वह यह है, इसरूप है, उसका यह स्वामी है, इससे वह उदित हुआ है और यहां पर मौजूद रहता है तवतक उसको अपने शरीरका ज्ञान रहता है किंतु जिससमय अनुभवमें आनेवाला पदार्थ क्या है? कैसा है? कौन उसका स्वामी, कहांसे उदित और कहां रहता है इसप्रकार व्युपरतक्रियानिवृत्ति सरीखी एक प्रकारसे समाधि प्राप्त हो जाती है उससमय योगीको जरा भी अपने शरीरका ज्ञान नहीं रहता। कहा भी है--

> तदा च परमैकाग्र्याद्बहिरर्थेषु सत्स्वपि।
> अन्यन्न किंचिनाभाति स्वयमेवात्मनि पश्यतः॥ १॥

अर्थात्—जिससमय योगी अपने योगमें लीन होजाता है उससमय परम एकाग्रतासे वह अपने आत्माके ही स्वरूपका अवलोकन करता रहता है इसलिये बाह्य पदार्थोंके रहते भी उसे कुछ भी अच्छा नहीं मालूम होता॥ ४२॥

शंका— आत्मस्वरूपमें लीन हो जानेपर अन्य कोई पदार्थ अच्छा नहीं मालूम होता यह कैसे? उत्तर—

> यो यत्र निवसन्नास्ते स तत्र कुरुते रतिं।
> यो यत्र रमते तस्मादन्यत्र न स गच्छति॥ ४३॥

अर्थ—जो मनुष्य जहां रहता है उसको वहीं प्रीति हो जाती है और वहीं रमण करनेके कारण अन्यत्र नहीं जाना चाहता।

भावार्थ— यह बात आबालगोपाल प्रसिद्ध है कि यदि मनुष्य किसी उत्तम शहर वा उत्तम मकानमें रहता है तो उसीमें उसका प्रेम हो जाता है, यदि वही किसी छोटेसे गांवके झोपड़ेमें रहता है तो उसकी उसीमें प्रीति हो जाती है तथा उसीमें क्रीडापूर्वक आनंदसे रहनेके कारण वह अपने कैसे भी अच्छे बुरे निवासस्थानको छोडना नहीं चाहता। उसीप्रकार जबतक योगी दूसरे पदार्थोंको अपना मानता है और उन्हें अपना हितकारी समझता है तब तक वह उन्हींमें प्रेम करता है और उन्हींको आनंददायी मान, आनंद स्वरूप अपने आत्माके स्वरूपकी ओर लौ नहीं लगाता किंतु जिससमय बाह्य पदार्थोंसे खिचकर योगीकी दृष्टि अपने विशुद्ध आत्मस्वरूपमें लीन हो जाती है और आत्मस्वरूपके चिंतवनसे जायमान आनंदका उसे अनुभव होने लगता है उस समय समस्त बाह्य पदार्थोंके रहते भी वह उनकी ओर नहीं झुकता स्वस्वरूपके सामने उसे सब फीका लगता है ॥ ४३ ॥ स्वात्मानुभवमें लीन होनेपर जब योगीकी अन्य पदार्थोंमें प्रवृत्ति नहीं होती तब क्या होता है? ग्रंथकार इसबातका समाधान देते हैं—

आगच्छंस्तद्विशेषाणामनभिज्ञश्च जायते।
अज्ञाततद्विशेषस्तु बद्ध्यते न विमुच्यते ॥ ४४ ॥

अर्थ—स्वात्मनिष्ठ योगीकी जब अन्यत्र प्रवृत्ति नहीं

होती तो उसे अन्य पदार्थोंके विशेषोंका भी ज्ञान नहीं रहता और जब उसे विशेषका ज्ञान नहीं होता तब उसके कर्मोंका बंध नहीं होता है, कर्मोंका नाश ही होता है।

भावार्थ—जो मनुष्य जिस पदार्थके चिंतवनमें मग्न हो जाता है उसे दूसरे पदार्थके अच्छे बुरे स्वरूपका जरा भी ज्ञान नहीं रहता इसलिये दूसरे पदार्थोंसे उसका संबंध नहीं रहता, उनसे उसका संबंध छूट जाता है। योगी भी जिससमय स्वस्वरूपके चिंतवनमें लीन हो जाता है और उसीको अपना मानने लगता है उससमय उसकी प्रवृत्ति बाह्य पदार्थोंकी ओर नहीं होती और प्रवृत्ति न होनेके कारण कौन पदार्थ अच्छा है, और कौन बुरा है इस रूपसे उनके विशेषोंका ज्ञान भी उसे नहीं होता। पदार्थोंके विशेष ज्ञानके अभावसे उनमें उसकी ममता भी नहीं होती और ममता न होनेके कारण शुभ अशुभ कर्मोंका बंध नहीं होता, निर्जरा ही होती चली जाती है जिससे उसे मोक्ष स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है॥ ४४॥ और भी ग्रंथकार उपदेश देते हैं—

परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखं।
अत एव महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमाः॥४५॥

अर्थ–पर पदार्थ पर ही है इसलिये उसको अपना मा-

नानेसे दुःख होता है और जो पदार्थ अपना है वह अपना ही है उसको अपनानेसे सुख मिलता है इसीलिये तीर्थंकर आदि महापुरुषोंने आत्माके लिये ही उद्योग किया है।

भावार्थ—स्त्री पुत्र शरीर आदि जो भी संसारमें पदार्थ हैं वे जड स्वरूप हैं इसलिये अपने चिदानंद चैतन्य स्वरूपसे भिन्न हैं यदि उनको अपना माना जायगा तो अवश्य दुख होगा क्योंकि वे सदा अपने साथ नहीं रह सकते, जरूर उनका वियोग होता है और वियोगसे अवश्य क्लेश होता है। चिदानंद चैतन्य पदार्थ अपना है कभी वह अपनेसे वियुक्त नहीं हो सकता इसलिये उसे अपना माननेसे परम सुखकी प्राप्ति होती है। तीर्थंकर आदि जितने भी महापुरुष होगये हैं उन्होंने शरीर आदि पदार्थोंको दुःखदायी जान उनको अपनानेका उद्योग नहीं किया किंतु चिदानंद चैतन्य स्वरूप जो अपना पदार्थ है उसीके लिये उद्योग किया है।

पर पदार्थोंमें अनुराग करनेपर क्या क्या फल प्राप्त होता है ? इसबातका निरूपण ग्रंथकार करते हैं—

अविद्वान् पुद्गलद्रव्यं योऽभिनंदति तस्य तत् ।
न जातु जंतोः सामीप्यं चतुर्गतिषु मुंचति ॥ ४६ ॥

अर्थ—अज्ञानी जीव पुद्गल द्रव्यको अपना मानता है इसलिये वह पुद्गल द्रव्य चारों गतियोंमें उसका संबंध नहीं छोडती साथही बनी रहती है।

भावार्थ—शरीर आदि पुद्गल द्रव्य सर्वथा हेय हैं और आत्मस्वरूपसे सर्वथा भिन्न हैं तथापि जिस पुरुषको इस बातका ज्ञान नहीं कि यह पदार्थ हेय है और यह पदार्थ उपादेय है वह शरीर आदिको अपना मानता रहता है। शरीर आदिको अपना माननेसे कर्मोंका आस्रव होता है, उसकी कृपासे चारो गतियोंमें घूमना पडता है और उन्हीं शरीर आदिका संबंध करना पडता है इसलिये पर पदार्थोंमें कभी अनुराग न करना चाहिये और अपने स्वस्वरूपको ही अपनाना चाहिये ॥ ४६ ॥

स्वस्वरूपके अपनानेसे क्या होता है ? ग्रंथकार यह समझाते हैं—

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारवहिःस्थितेः ।
जायते परमानन्दः कश्चिद्योगेन योगिनः ॥ ४७ ॥

अर्थ—प्रवृत्ति निवृत्ति रूप व्यवहारसे रहित होकर जिससमय योगी अपने आत्मस्वरूपमें लीन होजाता है उस समय उस योगकी कृपासे उसे परमानन्द स्वरूप मोक्षकी प्राप्ति होजाती है।

भावार्थ—स्वस्वरूपमें लीनता होना योग कहलाता है और जबतक वाह्य पदार्थमें ममत्त्व लगा रहता है तबतक स्वस्वरूपमें लीनता नहीं होती इसलिये जो योगी वाह्य पदार्थोंमें किसीप्रकारका ममत्व न कर स्वस्वरूपमें ही लीन

रहता है उसे अनिर्वचनीय आनन्द–मोक्ष सुखकी प्राप्ति होती है ॥ ४७ ॥

आनन्दका कार्य ग्रंथकार बतलाते हैं—

आनन्दो निर्दहत्युद्धं कर्मेंधनमनारतं ।
न चासौ खिद्यते योगी वहिर्दुखेष्वचेतनः ॥४८॥

अर्थ—वह आनन्द सदा आनेवाले प्रचुर भी कर्मरूपी ईंधनको जला डालता है और बाह्य पदार्थोंसे जायमान दुःखों का कुछ भी भान न होनेके कारण योगीको उससमय कुछ भी खेद नहीं होता।

भावार्थ—कर्म ऐसा वलवान है कि जबतक आत्मापर इसका प्रभाव पड़ा रहता है तब तक उसे स्वस्वरूपका ज्ञान नहीं होने देता, अपने जालमें फसाकर आत्माको चतुर्गति रूप संसारमें घुमाता है और अनेक प्रकारके क्लेश भुगाता है। परंतु किसी कारणसे कर्मोंका बल घटजानेपर जिससमय आत्मा स्वस्वरूप शुद्ध चैतन्य स्वरूपके चिंतवनमें लीन होजाता है उससमय कर्मोंका बल बराबर घटता चला जाता है और वे किसी समय जाकर नष्ट होजाते हैं। यही यहां पर बतलाया गया है कि योगी जिससमय स्वस्वरूपके चिंतवनसे उत्पन्न होनेवाले आनन्दको प्राप्त करलेता है उससमय समस्त कर्मरूपी ईंधन जलकर खाक होजाता है और स्वस्वरूपमें लीन होजाने से बाह्य पदार्थोंके अच्छे बुरेका

भी योगीको भान नहीं होता इसलिये उसे उनके संबंधसे किसी भी प्रकारका खेद नहीं होता ॥ ४८ ॥

और भी कहते हैं—

अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत् ।
तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद्द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः ॥ ४९ ॥

अर्थ—वह आनन्दस्वभाव ज्योति अविद्याको नाश करनेवाली महान उत्कृष्ट और ज्ञानमय है इसलिये मोक्षाभिलाषियोंको उसीके विषयमें प्रश्न करना, उसीकी अभिलाषा करना और उसीका अनुभव करना चाहिये।

भावार्थ–जिस आनन्दका ऊपर उल्लेख कर आये हैं वह आनंद एक प्रकारकी विलक्षण ज्योति है। वह ज्ञानस्वरूप है। उसके समान अन्य पदार्थ हितकारी नहीं इसलिये वह उत्कृष्ट महान है। आत्मामें उसके जाज्वल्यमान रहनेपर अज्ञानरूपी अंधकार सर्वथा नष्ट होजाता है। इसलिये वह आनन्दस्वरूप ज्योति जब इतनी उत्कृष्ट है, तब जो पुरुष मोक्षके—उस आनन्द स्वरूप ज्योतिके प्राप्त करनेके अभिलाषी हैं उन्हें चाहिये कि वे जब किसीबातका गुरु आदिसे प्रश्न करें तो उस ज्योतिके विषयमें करें। प्रतिसमय उसी ज्योतिकी अभिलाषा रक्खें और उसी ज्योतिका अनुभव करें–सार यह है कि मोक्षाभिलाषियोंको सोते

उठते बैठते उस ज्योतिहीका मनन ध्यान रखना चाहिये ॥'

तत्त्वसंग्रहके विषयमें ग्रंथकार कहते हैं—

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः ।
यदन्यदुच्यते किंचित् सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः ॥

अर्थ—जीव; शरीर आदि पुद्गलसे भिन्न हैं और पुद्गल भी जीवसे भिन्न है यही तत्त्वका संग्रह है और इसके अतिरिक्त जो भी दूसरा है-भेद प्रभेदको लिये कथन है वह उसी का विस्तार है ।

भावार्थ—यदि वास्तवमें देखा जाय तो 'सन्मात्रं तत्त्वं' सत् ही तत्त्व है। किंतु सत तत्त्वसे हर एक पदार्थकी असलियतका ज्ञान नहीं हो सकता इसलिये उसके भेदस्वरूप चेतन और अचेतन इस प्रकारसे दो तत्त्व स्वीकार किये गये हैं चेतनसे अचेतन सर्वथा भिन्न है और चेतन कभी अचेतन नहीं हो सकता। चेतनाके ज्ञान दर्शन आदि भेद हैं। ज्ञानके मतिज्ञान आदि भेद हैं, दर्शनके चक्षुदर्शन आदि भेद हैं। अजीव के भी पुद्गल आदि भेद हैं। पुद्गलके अणु स्कंध आदि भेद हैं इसलिये वास्तवमें तो समस्त जगत् चेतन और अचेतनके ही अंतर्गत है। ऐसा कोई जगत्में पदार्थ नहीं जो चेतन और अचेतन दोमें से एक न हो तथा ज्ञानदर्शनादि वा शरीर आदिक जो भी भेद प्रभेद हैं वे इसी तत्त्व संग्रहके विस्तार हैं ।

भगवान पूज्यपाद आचार्य शास्त्र अध्ययनका साक्षात् परंपरासे होनेवाला फल निरूपण करते हैं—

इष्टोपदेशमिति सम्यगधीत्य धीमान्
मानापमानसमतां स्वमताद्वितन्य।
मुक्ताग्रहो विनिवसन् सजने वने वा
मुक्तिश्रियं निरुपमामुपयाति भव्यः ५१

अर्थ—आग्रहरहित और ग्राम किंवा निर्जनवनमें निवास करनेवाला जो विद्वान भव्य जीव इष्टोपदेश इष्ट उपदेश—वा इष्टोपदेश शास्त्रका मनन परिशीलन करता है और उससे उत्पन्न हुए आत्मज्ञानसे सन्मान और अनादर दोनोंमें समता भाव रखता है वह महानुभाव अनुपम मोक्ष लक्ष्मीको प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—जो स्वात्मध्यानका उपदेश देनेवाला है उसका नाम इष्टोपदेश है वह इष्ट उपदेश भी लिया जा सकता है और इष्टोपदेशका निरूपण करनेवाला इष्टोपदेश ग्रंथ भी लिया जा सकता है। जो विद्वान भव्य जीव इष्ट उपदेश वा इष्टोपदेश ग्रंथका भले प्रकार अभ्यास करता है उसके अभ्याससे उत्पन्न स्वात्म ज्ञानसे मान और अपमानमें समताभाव रखता है यदि कोई सन्मान करता है तो उससे प्रसन्न नहीं होता और अपमान करता है तो नाराज नहीं होता। तथा आत्मस्वरूपके भले

प्रकार ज्ञान होजाने पर पदार्थोंमें जो अच्छे बुरेका आग्रह करने लगता है वह भी छोड देता है इसीलिए ग्राम वा वनमें निवास करता है उस पुरुष को परमानंदस्वरूप–मोक्ष सुख प्राप्त हो जाता है। यदि अनादि वासनासे परपदार्थोंमें राग द्वेषका अवसर प्राप्त भी हो जाय तो उस समय भी योगीको अपने स्वरूपका ही ध्यान करना चाहिये। कहा भी है–

यदा मोहात्प्रजायेते रागद्वेषौ तपस्विनः।
तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं साम्यतः क्षणात्॥ १॥

अर्थात् जिस समय पर पदार्थोंमें मोह हो जानेके कारण योगीके राग और द्वेषकी उत्पत्ति हो जाय तो उस समय उसे अपने स्वरूपमें लीन होकर समता पूर्वक अपनी आत्माके स्वरूपका ही चितवन करना चाहिये॥



इति इष्टोपदेश
समाप्त।



# तत्त्वानुशासनके श्लोकोंकी

## आकारादिक्रमसे सूची।

इति तत्वानुशासनके श्लोकोंकी
अकारादि क्रमसे सूची समाप्त ।

## वैराग्यमणिमालाके श्लोकोंकी आकारादि क्रमसे सूची।

इति वैराग्यमणिमालाके श्लोकोंकी

अकारादिक्रमसे सूची

समाप्त।



इष्टोपदेशके श्लोकोंकी

आकारादिक्रमसे सूची

इति इष्टोपदेशके श्लोकोंकी
आकारादि क्रमसे सूची
समाप्त



